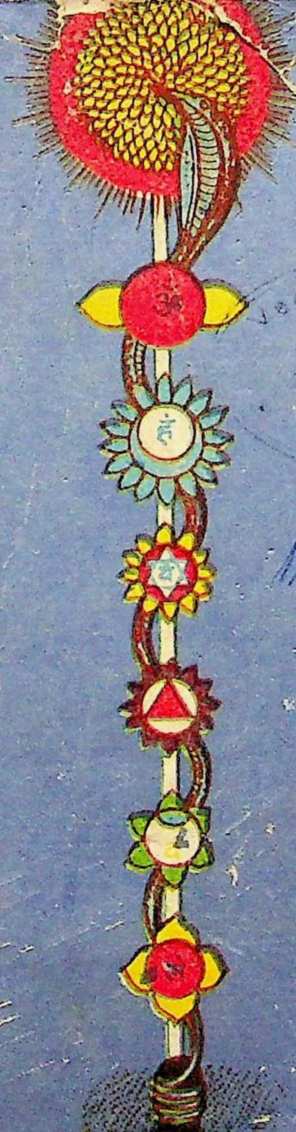


शिव संहित

ॐ

शिव-संहिता

(विस्तृत एव सरल हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादक:

डा० चमनलाल गौतम

पूर्व सम्पादक—जीवनयज्ञ और युग संस्कृति
रचयिता—मंत्र महाविज्ञान, उपासना महाविज्ञान, मंत्रयोग, वैदिक मंत्र विद्या, ओंकार सिद्धि, मंत्र शक्ति से रोग निवारण विपत्त निवारण-कामना सिद्धि, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, तंत्र विज्ञान, तंत्र रहस्य, तंत्र महाविद्या, तंत्र महासिद्धि।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००१ (उ.प्र.)

प्रकाशक:

डा. चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, वेदनगर
बरेली–२४३००१ (उ. प्र.)

●

अनुवादक:
डा. चमनलाल गौतम

●

द्वितीय संस्करण
१९७५

●

मुद्रक :
शैलेन्द्र वी. माहेश्वरी
नवज्योति प्रेस,
भीकचन्द मार्ग, मथुरा।

●

मूल्य तीन रुपये पचहत्तर पैसे

दो शब्द

प्रस्तुत शिव-संहिता योगशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका उपदेश भगवान् शिवजी ने प्राणिमात्र के उपकारार्थ किया था। इसमें ब्रह्मज्ञान और हठयोग के साथ राजयोग की क्रियाओं का भी सरल रीति से वर्णन हुआ है।

यह ग्रन्थ प्राचीन होने के कारण दुष्प्राप्य था। अनेक जिज्ञासुओं का इसके लिए विशेष आग्रह देखा गया तो बहुत खोज के पश्चात् इसकी एक लिपि प्राप्त की गई और सरल-सुबोध हिन्दी में विस्तृत अनुवाद करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

योग-जिज्ञासुओं के लिए ही नहीं, सर्व साधारण पुरुषों और अन्य मार्ग के उपासक मुमुक्षुओं के लिये भी यह एक अमूल्य उपलब्धि है, जिसका अध्ययन और मनन करके संसार-सागर के दुःखों से पार होने का उपाय किया जा सकता है।

हमें आशा है कि हमारे इस प्रयास से मुमुक्षुओं, योग के जिज्ञासुओं और सभी सामान्य पाठकों को भी अत्यन्त लाभ होगा और इसी में हमारे श्रेय की सार्थकता सिद्ध होगी।

—प्रकाशक

विषय सूची

शिव संहिता

प्रथम पटल

लयप्रकरण

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं
नान्यत् किञ्चिद्वर्तते वस्तु सत्यम् ।
यद्भेदोस्मिन्निन्द्रियोपाधिना वै
ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥१॥

अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥२॥

त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥३॥

केवल एक ज्ञान ही नित्य और आदि-अन्त से रहित है। जगत् में ज्ञान से भिन्न कोई अन्य वस्तु विद्यमान नहीं हैं। इन्द्रियों की उपाधि के द्वारा जो कुछ पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, वह केवल ज्ञान ही भासमान है, अन्यथा कुछ भी नहीं है। भक्तों पर कृपा करने के उद्देश्य से मैंने यह योग का अनुशासन कहा हैं। सब भूतों का आत्मा ईश्वर ही मुक्तिदायक यह इस शास्त्र का लक्ष्य है) जो मत विवादमय और दुर्ज्ञान के कारण रूप हैं, उनका त्याग करके आत्मज्ञान का आश्रय ले, यही भूतों की अनन्य गति है ॥१-३॥

सत्यं केचित् प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव सममार्जवम् ॥४॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ।
केचित् कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥५॥

कोई विद्वान् सत्य की प्रसंशा करते हैं तो कोई तपस्या की, और कोई शुद्ध आचार को ही श्रेष्ठ बताते हैं। कोई क्षमा को उचित मानते हैं तो कोई सब में समान भाव रखना ही ठीक बताते हैं। कोई सरलता का अनुमोदन करते हैं तो कोई दान की ही प्रसंसा किया करते हैं। कोई पितर कर्म (तर्पणादि) की महत्ता स्वीकार करते हैं, तो कोई कर्म अर्थात् सगुण उपासना को ही मान्यता देते हैं। कुछों के मत में वैराग्य ही श्रेष्ठ है।४-५

केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥६॥
मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ।
एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ॥७॥

कोई विद्वान् पुरुष गृहस्थ धर्म को प्रशंशनीय कहते हैं तो कोई परमज्ञानी अग्निहोत्र आदि कर्मों को ही प्रशस्त मानते हैं। किसी के मत में मन्त्र योग ही श्रेष्ठ है और किसी के विचार में तीर्थ यात्रा आदि करना या तीर्थों में जाकर स्नानादि कर्म करना ही उत्तम है। इस प्रकार अनेकानेक विद्वानों ने संसार-सागर से मुक्त होने के लिए अपनी-अपनी मति के अनुसार अनेकों उपाय बताये हैं ॥६-७॥

एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः ।
व्यामोहमेव गच्छन्ति विमुक्ताःपापकर्मभिः ॥८॥

एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ।
भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥९॥

इस प्रकार कृत्य-अकृत्य अर्थात् विधि-निषेध कर्मों के ज्ञाता पुरुष पापकर्मों से विमुक्त रहकर भी व्योमोह में ही पड़े रहते तथा पाप-पुण्य के अनुष्ठान रूप उपर्युक्त मतों के आश्रय में रहे आते हैं। उसके परिणाम स्वरूप अनुष्ठाता को जन्म-मरण के चक्र में बार-बार भ्रमते रहना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शुभ कर्मों के करने से चित्त की शुद्धि तो सम्भव है, परन्तु मुक्ति मिल जाना सम्भव नहीं है ॥८-९॥

अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥१०॥
यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ।
कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥११॥
ज्ञानप्रवाह इत्यन्ते शून्यं केचित्परं विदुः ।
द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपुरुषौ ॥१२॥

अन्य विद्वान् गोपनीय शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहना श्रेष्ठ बताते हैं। अनेकों का कहना है कि आत्मा नित्य और सर्वत्र गमन करने में समर्थ है। कुछ प्रत्यक्षवादियों के मत में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले पदार्थ ही सत्य हैं और कुछ भी सत्य नहीं है। वे अपने दृढ़ चित्त से यही कहते हैं कि स्वर्गादि लोक हैं हीं कहाँ ? अर्थात् स्वर्गादि लोक कहीं हैं ही नहीं। कुछ विद्वानों का मत है कि जो कुछ भी है, वह ज्ञान का प्रवाह ही है अर्थात् संसार को सब दृश्यमान वस्तुएँ ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किसी-किसी का निश्चय है कि जो कुछ है, वह शून्य ही है (यह

शून्यवादियों का मत है) इसी प्रकार कुछ लोगों के विचार में प्रकृति और पुरुष दोनों ही तत्व हैं ॥१०-१२।

अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ।
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥१३॥
निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च तथापरे ।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुत्या स्थितिकातराः ॥१४॥

जो लोग परमार्थ के विरुद्ध हैं उनकी मति तो और भी भिन्न हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी मति के अनुसार मान्यता बनाये हुए लोग कर्मों में लगे रहते हैं। किन्हीं का कहना है कि ईश्वर है ही नहीं और किन्हीं का कहता है कि यह जगत् प्रपंच ईश्वरमय ही है। इस भाँति अनेकों विद्वान् अनेक भेदों का वर्णन करते हैं और अपने मत में दृढ़ता पूर्वक तत्पर रहते हैं अर्थात् वे किसी अन्य मत की कोई बात भी नहीं सुनना चाहते ॥१३-१४॥

एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ।
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः ॥१५॥
एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ।
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाः सर्वेः मुक्तिमार्गबहिष्कृताः॥१६॥

इस प्रकार अनेकों मुनियों ने विभिन्न नाम वाले और पृथक्-पृथक् विधि-विधान वाले विविध मतों को लेकर शास्त्रों की रचना कर डाली है। परन्तु ऐसे सभी शास्त्र लोकों को व्यामोह में डालने वाले हैं। (अर्थात् उन भिन्न-भिन्न मत के शास्त्रों को पढ़ने से भ्रम उत्पन्न होजाता है और साधक कुछ निश्चय करने में असमर्थ रहता है, जिसके कारण जीवन समाप्त होने तक भी चित्त भ्रान्ति बनी रहती है। परन्तु ऐसे विवादशील पुरुषों का

मत कहने की शक्ति हममें नहीं है, जिनसे कि मनुष्य मुक्ति मार्ग को छोड़ कर भवचक में ही भ्रमण करते रहते हैं ॥१५-१६॥

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥१७॥
यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ।
तस्मिन् परिश्रमःकार्यःकिमन्यच्छास्त्र भाषितम् ॥१८॥

सभी शास्त्रों का अवलोकन करके उन पर पुनः पुनः विचार करके यही निश्चय होता है कि एक मात्र यही योग शास्त्र परममत रूप एवं श्रेष्ट है। इसकी ठीक प्रकार से रचना हुई है। जिसके ज्ञान लेने पर अवश्य ही सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। इसलिए इसके अध्ययन में ही परिश्रम करना चाहिए। क्यों कि (जब अन्य शास्त्र निरर्थक ही हैं तब) उनका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयोजन ही क्या है ? ॥१७-१८॥

योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मन ॥१९॥

शिवजी कहते हैं कि मेरे द्वारा कहा गया यह योगशास्त्र गोपनीय है, इसलिए इसे तीनों लोकों में से केवल उसी को देना चाहिए जो कि महात्मा और श्रेष्ट भक्त हो ॥१९॥

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ।
भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥२०॥
द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ।
निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ।
बिधिना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ॥२१॥

वेद के दो मत हैं—(१) कर्मकाण्ड और (२ ज्ञान काण्ड। उनमें भी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों के भी दो-दो भेद माने गए है। कर्मकाण्ड निषेध और विधि के भेद से दो प्रकार का है। निषेध कर्म के करने से अवश्य ही पाप होता है और विधि कर्म के कारण निश्चित रूप से पुण्य होता है ॥२०-२१॥

त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्य नैमित्यकाम्यतः।
नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्काम्ये नैमित्तिके फलम्॥२२॥

विधि कर्म नित्य, नैमित्तिक और सकाम के भेद से तीन प्रकार का है। नित्यकर्म अर्थात् देव-पूजन, सन्ध्या आदि इसके न करने से पाप होता है। सकामकर्म फल की इच्छा से किया जाता है और नैमित्तिक कर्म अर्थात् पर्व काल में तीर्थआदि के पुण्यजलों में स्नानदान आदि है, जिसके करने से पुण्य होना माना जाता है ॥२२॥

द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गं नरकमेव च।
स्वर्गे नानाविधं चैव नरके च तथा भवेत् ॥२३॥
पुण्यकर्मणि वै स्वर्गो नरकं पापकर्मणि।
कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥२४॥

दो प्रकार का फल माना जाता है—(१) स्वर्ग और (२) नरक। स्वर्ग और नरक दोनों ही अनेक प्रकार के हैं। पुण्यकर्मों को करने वाले को स्वर्ग और पाप-कर्मों के करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है। यह सृष्टि निश्चय ही कर्म-बन्धन से युक्त है, इससे अन्यथा नहीं समझना चाहिए। (सृष्टि के कर्मबन्धन से कहने का तात्पर्य है कि संसार में आकर मनुष्य जो कुछ कर्म या अकर्म करता है, जब तक उनके फल का भोग नहीं किया

जाता और जब तक किंचित भी कर्म शेष रहता है, जब तक संसार के बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता ।)॥२३-२४॥

जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।
नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ॥२५॥
पापकर्मवशाद्दुःख पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थी विविध पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवम् ॥२६॥

स्वर्ग में जीव को अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव प्राप्त होता है और इसी प्रकार नरक में उसे अनेक प्रकार के दुःसहनीय दुःगों को भोगना होता है। पाप कर्मों के करने से दुःख की और पुण्य कर्मों के करने से सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए सुख की इच्छा करने वाले पुरुष निश्चय ही विविध प्रकार के पुण्य कर्म किया करते हैं ॥२५-२६॥

पापभोगावसाने तु पुनर्ज्जन्म भवेत्खलु ।
पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥२७॥
स्वर्गेऽपि दुःखसम्भोगः परस्त्रीदर्शनाद्ध्रुवम्।
ततो दुःखमिदं सर्व भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥२८॥

जैसे पाप का फल भोग लेने पर जीव को पुनः ससार से जन्म लेना होता है, वैसे ही पुण्य का भल भोगने पर भी पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है। ऐसा अवश्य होता है, इसमें अन्यथा नहीं समझना चाहिए। स्वर्ग भी निश्चय ही दुःख का स्थान है, क्योंकि वहाँ परस्त्री का दर्शन अप्सराएँ आदि का भोग) मिलता है, जिससे राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि एवं इच्छित स्त्री के न मिलने से मानसिक व्यथा उत्पन्न होना स्वाभाविक है और यह सब दुःख रूप ही है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥२७-२८॥

तत्कर्म कल्पकैः प्रोक्तं पुण्यपापमिति द्विधा ।
पुण्यपापमयौ बन्धो देहिनां भवति क्रमात् ॥२९॥
इहामुत्र फलद्वेषी सकलं कर्म सत्यखेत् ।
नित्यनैमित्तिके सङ्ग त्यक्त्वा योग प्रवर्तते ॥३०॥

मेधावी जनों ने पुण्य और पाप के रूप में दो प्रकार के कर्म कल्पित किये हैं। उन्हीं पाप-पुण्य कर्मों से शरीर बँधा हुआ है जिससे कि जीव को बार-बार जन्म ग्रहण करना होता है। इस लोक और परलोक के फल की कामना का और नित्य-नैमित्तिक आदि सभी कर्मों के फलों की आकांक्षा का त्याग करके मुमुक्षु पुरुष को योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए ॥२९-३०॥

कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ।
पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डं प्रवर्तते ॥३१॥
आत्मा वा रे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुतिः ।
सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ॥३२॥

योगी साधक के लिए आवश्यक है कि वह कर्मकाण्ड के माहात्म्य को जान लेने के पश्चात् पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़ कर ज्ञानकाण्ड में प्रवृत्त हो जाय। श्रुति का वचन है कि अरे, आत्मा ही सुनने के योग्य है, आत्मा ही मनन करने के योग्य है। आत्मा ही मुक्ति की देने वाली और सभी को उत्पन्न करने वाली है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक आत्मा का सेवन करे ॥३१-३२॥

दुरितेषु च पुण्येषु यो धीर्वृत्ति प्रचोदयात् ।
सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ॥३३॥

सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ।
न तद्भिन्नोऽहमस्मिन्नो यद्भिन्नो न तु किंचन ॥३४॥

जो चित्तवृत्ति बुद्धि को पाप और पुण्य दोनों में ही समान रूप से प्रेरित करती है, 'वह मैं हूँ' मुझसे ही इस सम्पूर्ण चराचर रूप जगत् की उत्पत्ति होती है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपंच मैं ही हूँ, यह सब (मुझसे ही उत्पन्न होता और) मुझमें ही लीन हो जाता है। न वह मुझसे भिन्न है और न मैं उससे भिन्न हूं। इस प्रकार मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अभिप्राय यह है कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय मुझसे ही होती है, योगी पुरुष को ऐसी मान्यता रखनी चाहिए ॥३३-३४॥

जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत् ।
एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ॥३५॥
उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा ।
सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ॥३६॥

जिस प्रकार जल से परिपूर्ण शराब (मृतिका पात्र) में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब प्रतीत होते हैं, परन्तु यथार्थ में वे अनेक नहीं होते, वरन् उनमें अनेकता की प्रतीति शराब की उपाधि और संख्या के भेद से होती है (परन्तु सूर्य अनेक नहीं होते), वैसे ही यह जगत् भी एक आत्मा होता हुआ भी भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। (वास्तव में तो वह ब्रह्म एक ही है)।३५-३६।

यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधतयेष्यते ।
जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥३७॥
सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ।
तद्वदेवमिदं विश्वं विवृत्तं परमात्मन ॥३८॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में ऐसे ही अनेक प्रकार की कल्पना होती है, परन्तु निद्रा के भंग होने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार जगत् के अनेक रूपों की प्रतीति माया के आवरण से ही होती है। फिर जब वह माया दूर होजाती है, तब जगत् का अनेकत्व दूर होकर एकमात्र शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है। जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि अथवा सीप में रजत की भ्रान्ति होने लगती है, वैसे ही परमात्मा में माया के आवरण से इस विश्व की भ्रान्ति होती है ॥३७-३८॥

रज्जुज्ञानानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ।
आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूत मिदं जगत् ॥३९॥
रौप्यभ्रांतिरियं याति शुक्तिज्ञानाद् यथा खलु ।
जगत्भ्रांतिरियं याति चात्मज्ञानाद्यथा तथा ॥४०॥

परन्तु जब रस्सी का ज्ञान होजाता है, तब सर्प की मिथ्या बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही आत्मज्ञान के होने पर यह मिथ्याभूत जगत् भी नहीं रहता। इसी प्रकार जब यह ज्ञान होजाता है कि यह सीप है तभी उसके रजत होने का भ्रम दूर होजाता है, वैसे ही आत्मज्ञान के उत्पन्न होने पर जगत् की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है ॥३९-४०॥

यथा रज्जूरगभ्रांतिर्भवेद्भेदशाज्जगत् ॥४१॥
तथा जगदिदं भ्रांतिरध्यासकल्पनाजगत् ।
आत्मज्ञानाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ॥४२॥

जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, वैसे ही जगत् भीभेद के वश में पड़ा है अर्थात् जगत् की भिन्नता रूप भ्रान्ति रज्जु में सर्प-भ्रान्ति के ही समान है। संसार की यह कल्पना अध्यास मात्र ही है, 'इसमें यथार्थता किंचित् भी नहीं है, परन्तु रज्जु

ज्ञान के समान आत्मज्ञान होते ही मिथ्या संसार भी नहीं रहता ॥४१-४२॥

यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतो भवति नान्यथा ।
अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति दुस्त्यजम् ॥४३॥
दोषनाशे यथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयम् ।
शुक्लज्ञानात्तथाज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥४४॥

जिस प्रकार पित्तादिकेदूषित होने से पाण्डु रोगहोकरनिश्चय ही पीलापन प्रतीति होता है, वैसे ही अज्ञान रूप दोष के कारण आत्मा भी मिथ्या जगत् के रूप से दिखाई देने लगता है। वह अज्ञान सरलता से दूर नहीं हो पाता। परन्तु जब वह दूर हो जाता है तब (पित्तादि दोषों के दूर होने पर) रोगी का पीलापन मिट कर शुक्ल रूप दिखाई देने के समान ही शुद्ध ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। (इस प्रकार अज्ञान भी रोग के समान है जो कि आत्मज्ञान रूपी ओषधि के द्वारा ही नष्ट हो सकता है) ॥४३-४४॥

कालत्रयेऽपि न यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति ।
तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो निरञ्जनः ॥४५॥
आगमाऽपायिनोऽनित्या नाश्यत्वे नेश्वरादयः ।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रादेताद्विनिश्चितम् ॥४६॥

जैसे कि त्रिकाल में भी रस्सी सर्प नहीं बन सकती, वैसे ही गुणों से परे और विशुद्ध आत्मा कभी भी विश्व नहीं बन सकता यह निश्चय है। जिस शास्त्र में आत्म-बोध विषयक उपदेश हैं, उसके अध्ययन से यही निश्चय होता है कि ईश्वर कहे जाने वाले इन्द्रादि देवगण भी अनित्य ही हैं अर्थात् उनका भी आवागमन निश्चित है ॥४५-४६॥

यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेनबुद्बुदाः ।
तथात्मनि समुद्भूतं संसारं क्षणभंगुरम् ॥४७॥
अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते ।
द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति ॥४८॥

जैसे कि वायु के क्षोभ से समुद्र में फेन और बुद्बुदे उत्पन्न होते और तुरन्त ही समुद्र में लीन हो जाते हैं, वैसे ही माया की उपाधि से आत्मा के द्वारा ही यह क्षणभंगुर संसार उत्पन्न होता (और फिर आत्मा में ही लीन हो जाता है । आत्मा का संसार से अथवा किसी भी वस्तु से भेद नहीं है और दो, तीन इत्यादि जैसा भी भेद प्रतीत होता है, वह भ्रमत्व से ही है अर्थात् उस भ्रम के दूर होते ही अनेकत्व का भेद नहीं रह पाता ॥४७-४८॥

यद्भूत यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ।
सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥४९॥
कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका।
एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥५०॥

जो उत्पन्न हो चुका है और जो भविष्य में उत्पन्न होगा अर्थात् जो कुछ मूर्तिमान है और जो कुछ अमूर्त है, वह यह सम्पूर्ण जगत् माया के आवरण से आत्मा द्वारा ही प्रकट हुआ है । यह मिथ्या जगत् अविद्या की कल्पना से कल्पित हुआ है । इसकी जड़ ही मिथ्यात्व पर आधारित तब यह स्वयं ही कैसे सत्य हो सकती है ॥४९-५०॥

चैतन्यात् सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरण ।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य चैतन्य तु समाश्रयेत् ॥५१॥

घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यन्तरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ॥५२॥

केवल चैतन्य आत्मा से ही यह सम्पूर्ण (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज आदि) चराचर विश्व उत्पन्न होता है, इसलिए सब कुछ छोड़ कर एक चैतन्य आत्मा का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है। जैसे घट के भीतर और बाहर आकाश प्रवृत्त रहता है, वैसे ही आत्मा भी ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर पूर्णरूप से व्याप्त रहता है ॥५१-५२॥

सततं सर्वभूतेषु यथाकाश प्रवर्तते ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्माण्डस्य प्रवर्तते ॥५३॥
वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समन्ततः ।
तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ॥५४॥

जैसे सभी भूतों में आकाश सदा व्याप्त रहता है, वैसे ही आत्मा भी ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर प्रवर्तित रहता है। अथवा जिस प्रकार सभी भूतों में आकाश समन्वित रहता है, वैसे ही आत्मा भी संम्पूर्ण कार्य-वर्ग अर्थात् उत्पन्न वस्तुओंमें सदानिहित रहता है ॥५३-५४॥

असंलग्न यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु ।
असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ॥५५॥
ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्तं समन्ततः ।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ॥५६॥

जैसे आकाश मिथ्या पंचभूतों में मिला हुआ दिखाई देने पर भी उससे संलग्न नहीं है, वैसे ही आत्मा भी सम्पूर्ण कार्यवर्ग अर्थात् उत्पन्न वस्तुओं में व्याप्त रहता हुआ भी सब से पृथक्

रहता है। ईश्वर अर्थात् इन्द्रादि रूप सम्पूर्ण विश्व में एक ही आत्मा पूर्णरूप से व्याप्त है। वही एक आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म तथा द्वैत-रहित अर्थात् अद्वैत है ॥५५-५६॥

यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ।
स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिः स्वरूपकः॥५७॥
अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ।
आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु ॥५८॥

इसलिए उस आत्मा का प्रकाशक कोई अन्य नहीं है, वरन् वह स्वयं ही प्रकाशमान रहता है और स्वयं प्रकाशमान होने के कारण ही वह ज्योति स्वरूप है। देश-काल के प्रमाण से वह अवच्छिन्न नहीं है (क्योंकि न तो उसमें देश-काल का कोई नियम है और न संकोच या विस्तार ही है) इसलिए आत्मा सदा सब प्रकार से परिपूर्ण है ॥५७-५८॥

यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथात्मकैः ।
तस्मादात्मां भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु ॥५९॥
यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा ।
यस्मात्तदन्योमिथ्या स्यादात्मा सप्यो भवेत्खलु ॥६०॥

इस प्रकार उन नाशवान पंचभूतों के नाश से इस (आत्मा) का नाश नहीं होता क्योंकि आत्मा तो सदा अविनाशी है, उस का नाश किसी प्रकार भी संभव नहीं है। जब अन्य कोई है ही नहीं, तो यह निश्चय है कि एक वही अद्वैत आत्मा है। जबअन्य सब कुछ मिथ्या ही है, तब वही शुद्ध आत्मा सत्य हो सकता है ॥५९-६०॥

अविद्या भूतसंसारे दुःखनाशे सुखं यतः ।
ज्ञानादाद्यन्तशून्यं स्यात्तस्मादात्मा भवेत्सुखम् ॥६१॥
यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ।
तस्मादात्मा भवेत् ज्ञान ज्ञान तस्मात्सनातनम्॥६२॥

अविद्या से उत्पन्न हुए इस संसार के दुःख नष्ट होने पर सुख का होना माना जाता है। परन्तु ज्ञान से दुःख का न तो आदि है और न अन्त ही है। इसलिए आत्मा अवश्य ही सुखरूप है। जिसके द्वारा अज्ञान का नाश होता है और तब यह समझ में आता है कि विश्व का कारण ज्ञान ही है। इसलिए आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान सनातन अर्थात् अनादि काल से चला आता है ॥६१-६२॥

कालतो विविधं विश्वं तदा चैव भवेदिदम् ।
तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ॥६३॥
बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं याति कालतः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते आत्मा द्वैतविवर्जितः ॥६४॥

काल के द्वारा विविध रूप वाला विश्व उत्पन्न होता है,इस लिए वह एक आत्मा ही है। इस प्रकार आत्मा के लिए कल्पना का कोई मार्ग खुला नहीं है अर्थात् आत्मा कल्पित नहीं, वरन् सत्य है। जो आत्मा से बाहर अर्थात् भिन्न पदार्थ हैं, वे सब काल के प्राप्त होजाने पर नष्ट होजाते हैं। इसलिए आत्मा द्वैत-रहित अर्थात् अद्वैत है, उसको वाणी से नहीं बताया जा सकता ॥६३-६४॥

न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ।
नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु ॥६५॥

आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ।।६६।।

वह आकाश नहीं है, इसलिए उसमें शब्द का अभाव हैं। वह वायु नहीं है, इसलिए स्वर्श से परे है। वह अग्नि नहीं है, इसलिए रूप-रहित है। वह जल नहीं है, इसलिये रसहीन है। वह पृथिवी नहीं है, अतः उसमें गन्ध भी नहीं है। वह कार्य नहीं है, क्योंकि कारण से रहित है और न वह ब्रह्मादि ईश्वर ही है। वह तो पूर्णकाम है अर्थात् उसे किसी प्रकार की कामना नहीं है। इस प्रकार आत्मा से आत्मा को आत्मा में ही देखने वाला योगी सभी संकल्पों को और मिथ्या भवजाल को त्याग कर संन्यास परायण रहता है ।।६५-६६।।

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम् ।
विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ।।६७
मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ।
यदि नाश समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ।।६८।।

वह योगी आत्मा से आत्मा को आत्मा में ही देखता हुआ सुखात्मक होकर संसार को भूल जाता है और आनन्दरूपिणी समाधि में तीव्रता से रम जाता है। माया ही विश्व की जननी है, क्योंकि उसी से विश्व उत्पन्न होता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं होता। इसलिए आत्मज्ञान के द्वारा इस माया के नष्ट हो जाने पर निश्चय ही इस विश्व प्रपंच का नाश हो जाता है ।।६७-६८।।

हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ।
ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ।।६९।।

अरिमित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ।
व्यहारेषु नियतं दृश्यते नान्यया पुनः ।
प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतस्फुटम् ॥७०॥

यह सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच माया का ही विलास है । इसलिए इस शरीर को सुखात्मक मान कर इससे प्रीति करना ठीक नहीं है । इस जगत् मे शत्रु, मित्र और उदासीन के रूप में तीन प्रकार का व्यवहार दिखाई देता है, इसके अतिरिक्त प्रकार का नहीं, और प्रिय, अप्रिय के भेद में ही यह सम्पूर्ण जगत् बंधा हुआ है ॥६९-७०॥

आत्मोपाधिवशादेवं भवेत् पुत्रादि नान्यथा ॥७१॥
मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ।
अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ॥७२॥
कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि वेदना ।
निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विजयतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥७३॥

पुत्र आदि कुटुम्बियों का सब नाता भी आत्मा की उपाधि से ही है और किसी प्रकार से नहीं है । यह विश्व माया से ही विलसित है, ऐसा श्रुति के प्रमाण से जान कर ही योगीजन अध्यारोप और अपवाद से आत्मा मैं लीन करते हैं । इस विश्व की उत्पत्ति-स्थिति कर्म से है अर्थात् दुःखादि कर्म से ही होते हैं, कर्म के न रहने पर कोई दुःख नहीं रहता । जब आत्मा माया की उपाधि को जीत लेता है तब माया-रहित होने पर अखण्ड ज्ञान रूप विशुद्ध ब्रह्म की प्रतीति होती है ॥७१-७३॥

स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ।
अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥७४॥
शूद्धे ब्रह्मणि संबद्धो विद्यया सहजो भवेत् ।
ब्रह्मतेजोंशतो याति तत आभासते नमः ॥७५॥
तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ।
प्रकाशते ततः पृथ्वीकल्पनेयं स्थिता सति ॥७६॥
आकाशाद्वायुराकाशः पवनादग्निसम्भवः ।
खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्नेर्वारितो मही ॥७७॥

आत्मा स्वेच्छापूर्वक स्वयं ही प्रजाओं का सृजन सरता है और यह इच्छा अविद्या से उत्पन्न होती है जो कि स्वभाव से ही मिथ्या है। (इसलिए मिथ्या माया से उत्पन्न हुई सृष्टि भी मिथ्या ही है) शुद्ध ब्रह्म में विद्या का सम्ब ध स्वाभाविक है और उस ब्रह्म के ही तेजरूप अंश से आकाश का प्राकट्य हुआ है। उस आकाश से वायु और वायु से अग्नि प्रकट हुआ। अग्नि से जल और जल से पृथिवी प्रकट हुई। इस प्रकार की कल्पना की गई। इस भाँति आकाश से वायु और आकाश-वायु के योग से अग्नि उत्पन्न हुआ। आकाश, वायु और अग्नि के योग से जल की उत्पत्ति हुई तथा आकाश वायु, अग्नि और जल के संयोग से पृथिवी उत्पन्न हुई ॥७४-७७॥

खं शब्दलक्षणं वाश्चञ्चलः स्पर्शलक्षणः ।
स्याद्रूपलक्षणं तेजः ससिलं रसलक्षणम् ॥७८॥
गंधलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
विषेशगुणा स्फुरति यतः शास्त्रादिनिर्णयः ॥७९॥

शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
तथैव त्रिगुणं तेजो भवन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥८०॥
शब्दः स्पर्शश्च रूप च रसो गन्धस्तथैव च ।
एतत्पंचगुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना ॥८१॥

आकाश का गुण शब्द है । वायु के दो गुण है–चंचलता और स्पर्श । तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप और जल का रस होता है । पृथिवी का लक्षण अर्थात् गुण गन्ध है । निश्चय-पूर्वक ऐसा ही है, इसमें कुछ अन्यथा नहीं समझना चाहिए । इन पंचतत्वों का यह गुण-वैशिष्ट्य शास्त्रादि के निर्णय द्वारा ही मान्य हुआ है । इस प्रकार आकाश में एक शब्द गुण, वायु में दो गुण, अग्नि में तीन, और जल में चार होते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों गुणों की विद्यमानता पृथिवी में कल्पित की गई है ॥७८-८१॥

चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते ॥८२॥
रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते परम् ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥८३॥

नेत्रों के द्वारा रूप का ग्रहण होता है और नासिका के द्वारा गन्ध का, जिह्वा के द्वारा रस ग्रहण किया जाता है, त्वचा के स्पर्श का और कानों से शब्द का ग्रहण होता है । यह निश्चित नियम है, जो कि किसी भी प्रकार टाला नहीं जासकता।८२-८३।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।
अस्ति केत्कल्पनेयंस्यान्नास्तिचेदचिन्मयमू ॥८४॥
पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नं च तेजति ।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ।

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥८५॥

यह सम्पूर्ण चराचर संसार एक ही चैतन्य से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कल्पना से ही संसार सत्य प्रतीत होता है। परन्तु संसार का अभाव होने पर उस एक विशुद्ध चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त कुछ और शेष नहीं रहता। पृथिवी जल में लीन हो जाती है और जल अग्नि में लीन होजाता है। वैसे ही अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में लीन होना निश्चित हैं। तत्पश्चात् आकाश अविद्या में लीन हो जाता है और अविद्या स्वरूपिणी माया परमपद में जाकर लयभाव को प्राप्त होजाती है। अर्थात् प्रत्येक भूत अपने-अपने कारण में लीन होजाता है और तब एक मात्र ब्रह्मरूप परमपद ही शेष रहता है। ८४-८५॥

विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी ।
जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा ॥८६॥

सा मायावरणाशक्त्य वृता विज्ञानरूपिणी ।
दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः ॥८७॥

परमात्मा की यह दो शक्तियाँ विक्षेप और आवरण स्वरूप हैं। यह अत्यन्त दुःख देने वाली हैं, जिनका कि अन्त ही नहीं होपाता यह महामाया त्रिगुणात्मिका अर्थात् रजसत्व और तमोगुणसे युक्त है। यह इन गुणों को इच्छित रूप से धारण करती रहती है। यही मायामयी आवरण शक्ति जब ज्ञान का आवरण ओढ़ लेती है तब स्वयं ही विज्ञानरूपिणी (अज्ञानमयी) बन जाती है। फिर यही विक्षेप स्वभाव वाली शक्ति जगत् के आकार को प्रदर्शित करती है ॥८६-८७॥

तमोगुणात्मिका विद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम् ।
ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तदभूद्ध्रुवम् ।।८८।।
सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीःस्याद्दिव्यरूपिणी ।
चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ।।८६।।
रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ।
कश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मा तदुपधारकः ।।९०।।

यही महाविद्या जब तमोगुण से युक्त होती है तब दुर्गा-स्वरूप धारणा कर लेती है और फिर यही चैतन्य स्वरूप ईश्वर को आविर्भूत करती है, यह निःसदेह सत्य है। जब यह सत्वगुण को अधिकता से धारण कर लेती है, तब दिव्य स्वरूप धारण करके विष्णुरूप चैतन्य को उत्पन्न करती हैं, यह भी निर्णीत तथ्य है और जब यह विद्या रजोगुण के बाहुल्य से युक्त होती है, तब सरस्वती स्वरूपिणी होकर ब्राह्मरूप चैतन्य को उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण की अधिकता से यही शक्ति दुर्गारूपिणी होकर संहारकर्त्ता शिव को प्रकट करती है, सत्वगुण की अधिकता से विश्व-पालक विष्णु को प्रकट करती है तथा रजोगुण की अधिकता से सरस्वती रूप होकर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार यह शक्ति ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में कारण है ।।८९-९०।।

ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ।
शरीरामिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा ।।९१।
एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम् ।
तत्त्वात्तत्त्वं भवन्तीह कल्पनान्येनु नोदिता ।।९२।।

ईश्वर आदि जितने भी देवता हैं, वे सब एक ही परमात्मा

में देखे जा सकते हैं। परन्तु शरीर आदि सभी जड पदार्थ उसी एक विद्या में निहित होने के कारण आत्मा से भिन्न प्रतीत होते हैं। इसीलिए विज्ञजनों ने सृष्टि की इस प्रकार से कल्पना की है। क्योंकि तत्वात्मक और अतत्वात्मक दोनों प्रकार का विश्व एक मात्र आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है। अत: आत्मा से भिन्न जो कुछ भी है, वह सब कल्पना मात्र ही है, उसे किसी ने भी सत्य नहीं माना है ॥९ -९२॥

प्रमेयत्वादिरूदेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते ।
तथैव वस्तु नास्त्येव भासको वर्तकः परः ॥९३॥
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते ।
विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ॥९४॥

प्रमेयत्वादि रूप अर्थात् संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, उस सब को प्रकाशित करने वाला एक आत्मा ही है। यह जो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं वह सब उपादि का ही भेद है, यथार्थ में तो उसमें कुछ भेद नहीं है। केवल विशेष शब्दों के प्रयोग से उसमें केवल संज्ञात्मक भेद ही प्रतीत होता है ॥९३-९४॥

एकः सत्तापूरितानन्दरूपः
पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किञ्चित् ।
एतज्ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं
मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुः खात् ॥९५॥

एक सत्ता से परिपूर्ण हुआ वह आत्मा ही सर्वत्र आनन्दरूप से विद्यमान रहता है, उससे भिन्न कहीं कोई नहीं है। जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त करके उसी में चित्त रमालिया है, वही पुरुष

जन्म-मरण रूपी सांसारिक दुःखों से मुक्त हो गया समझो अर्थात् उस ज्ञानी के लिए कोई भी दुःख पीडित नहीं करता ॥६५॥

यस्यारोपापवादभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ।
स एको वर्तते नान्यत् तच्चित्तेनावधार्यते ॥६६॥

ज्ञान के द्वारा जहाँ आरोप-अपवाद में सभी उत्पन्न कार्यों का लीन होजाना निश्चित है, वहाँ उस सतत विद्यमान एक ही आत्मा में मन को लीन कर लेना चाहिए । अभिप्राय यह है कि आत्मा में सभी उत्पन्न पदार्थों का लय होजाता है, इसलिए मन को भी उसी में लगाकर आत्मा का ही चिन्तन करे । ६६॥

पितुरन्नमयात्कोषाज्जायते पूर्वकर्मणः ।
शरीरं वै जडं दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ॥९७॥
मांमास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ।
केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुम्फितम् ॥६८॥

अपने पूर्व कर्मों के अनुसार ही जीव उत्पन्न कर्त्ता पिता के अन्नमय कोष से उत्पन्न होकर सुन्दर जड़ शरीर रूप दुःख-भोग स्वरूप से प्रकट होता है । मांस, अस्थि, स्नायु और मज्जा आदि नाड़ियों के बन्धन से बँधा हुआ शरीर भोग-मन्दिर रूप होकर दुःख का कारण होता है । अभिप्राय यह है कि यह शरीर ही दुःख स्वरूप है, इसलिए इसमें आत्मभाव रखना व्यर्थ ही है ॥६७-६८॥

पारमैष्ठ्यमिदं गात्रं पञ्चभूतविनिर्मितम् ॥
ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम् ॥६९॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम् ।
स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया ॥१००॥

यह शरीर परमेष्ठी अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा पंचभूतों से बनाया गया है तथा ब्रह्माण्ड संज्ञक होकर सुख-दुःख भोगने के लिए ही इसकी कल्पना की गई है। शिवरूप बिन्दु और शक्ति रूप रज के सयोग से ही यह शक्तिस्वरूपा जड़ माया अपने ऐश्वर्य से ही स्वप्न के समान शरीरों को उत्पन्न करती है ॥९९-१००॥

तत्पंचीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानि चराचरम् ॥१०१॥
ब्रह्माण्डस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽति कर्मभिः ॥
तद्भूतपंचकात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥१०२॥

पंचभूतों के पंजीकरण से ही इस संसार में स्थूल रूप चराचर सृष्टि की अनेक प्रकार की उत्पत्ति है। यह जीव अपने कर्मों के अनुसार भोगों के भोगने के लिए ही ही जीव रूप में पंचभूतों से उत्पन्न होता ॥१०१-१०२॥

पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम् ।
अजडः सर्वभूतान्वै जडस्थित्या भुवक्ति तान् ॥१०३॥
जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधो भवेत् ।
भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्माण्डाख्ये पुनः पुनः ।
जीवश्च लीयते भोगावसाने च स्वकर्मणः ॥१०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैं जीव को उसके कर्म के अनुसार ही उत्पन्न करता हूँ तथा मैं सभी भूतों से भिन्न, अजड हूँ, फिर भी जड स्वरूप होकर मैं सब का भक्षण कर लेता हूं। अपने कर्म-बन्धन में बँध कर जीव को विविध प्रकार का होकर जड़ शरीर धारण करना होता है क्योंकि वह अपने कर्मों को भोगने के लिए ही संसार में बार-बार आता है और जब भोगों का क्षय होजाता है तब उसी आत्मा में लीन होजाता है ॥१०३-१०४॥

॥ शिव संहिता का प्रथम पटल समाप्त ॥

द्वितीय पटल

तत्वज्ञान प्रकरण

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ॥१॥
ऋषियो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ॥२॥

इस शरीर में सप्त द्वीपों के सहित सुमेरु पर्वत विद्यमान है। सरिता, सागर पर्वत, शेत्र, क्षेत्रपाल ऋषि-मुनि और सभी नक्षत्र, ग्रह, पुण्य तीर्थक्षत्र एवं पीठ और पीठदेवता सभी की इस शरीर में विद्यमानता है। अभिप्राय यह है कि इस शरीर में ही सब पुण्य स्थान, तपोवन और देवालय आदि स्थित हैं, इसलिए साधक को अपने शरीर में स्थित उन स्थानों को जान कर वहीं पुण्य संचय करना चाहिए। उसे कहीं अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है ॥१-२॥

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वह्निनश्च जल पृथ्वो तथैव च ॥३॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥४॥

सृष्टि और संहार के करने वाले चन्द्र-सूर्य इस देह में ही भ्रमण करते रहते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा

पृथिवी, यह पाँचों तत्व भी देह में सदा ही विद्यमान रहते हैं। तीनों लोकों में जितने भी भूत हैं, वे सभी शरीरस्थ सुमेरु के आश्रय में रहते हुए अपने-अपने व्यवहार में प्रवृत्त रहते हैं। इस सब भले प्रकार से वाला निःसंदेह योगी है ।।३-४।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ।।५।।

यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है अर्थात् ब्रह्माण्ड में और इसमें कोई भेद नहीं अथवा जो कुछ इस शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। जैसे शरीर में सभी देश और सुमेरु आदि पर्वत स्थित हैं, वैसे ही इस शरीर में सुमेरु पर्वत विद्यमान है और उसके शृङ्ग के ऊपर अपनी आठ कलाओं के सहित चन्द्रमा अवस्थित है ।५।

वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः ।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ।।६।।
इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम् ।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ।।७।।
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ।।८।।

वह चन्द्रमा अधोमुख रह कर दिन-रात अमृत की वर्षा करता रहता है। उस अमृत के दो भेद होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर की पुष्टि के लिए इडा नाड़ी के मार्ग से जो पवित्र जल रूपी मन्दाकिनी प्रवाहित है वह अवश्य ही शरीर की रक्षा और पोषण करती है। वह अमृत रश्मियों से युक्त इडा नाडी (नासिका के) वाम भाग के स्थित रहती है ।।६-८।।

अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात् ।
रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ।।९।।

मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ॥१०॥

वह शुद्ध दुग्ध के समान आभा वाला चन्द्रमा हर्षपूर्वक अपने मण्डल से मेरु पर आकर इडा के रन्ध्र-मार्ग के द्वारा शरीर को पुष्ट करता रहता है। मेरु (मेरुदण्ड) के मूल में अर्थात् नीचे की ओर अपनी बारह कलाओं से युक्त हुआ सूर्य स्थित रहता है। दक्षिण पथ अर्थात् पिंगला नाड़ी के मार्ग से प्रजापति ऊर्ध्वगति वाला होता है ॥९-१०॥

पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ॥११॥
एषा सूर्यपरा मूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ॥१२॥

चन्द्रमा से स्रवते हुए उस अमृत को सूर्य अपनी रश्मियों के सामर्थ्य से अवश्य ही ग्रास कर लेता है और वायु मण्डल से मिलकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता रहता है। यह सूर्य परक निर्वाणमूर्ति दक्षिण पथ की ओर है अर्थात् पिंगला नाड़ी नासिका के दक्षिण भाग में स्थित है। सृष्टि-संहारक सूर्य लग्न योग से नाड़ी के द्वारा प्रवाहित रहता है ॥११-१२॥

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥१३॥
सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तिजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥१४॥
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासुतिस्रो मुख्याः स्युः पिंगलेडा सुषुम्णिका ॥१५॥

मानव शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ प्रधान हैं, उनमें चौदह नाड़ियां प्रमुख मानी गई हैं। वे यह हैं सुषुम्ना, इडा पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वारुणा, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इन चौदह नाड़ियों में भी पिंगला, इडा और सुषुम्ना यह तीन नाड़ियाँ प्रमुख हैं ॥१३-१५॥

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा ।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यःसन्ति हि देहिनाम्॥ १६॥

नाड्यस्तु ता अधोवदनाःपद्मतन्तुनिभाःस्थिताः।
पृष्ठवशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥१७॥

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं शुभम् ॥१८॥

पिंगला,इडा,और सुषुम्ना इन तीन नाड़ियों में से एक सुषुम्ना ही सर्व प्रमुख है, क्योंकि यह योगियों के लिए अत्यन्त प्रिय है। क्योंकि यह उनके लिये परमपद रूप आश्रय के देने वाली है। अन्य जितनी भी नाड़ियां वे सब भी देह में ही स्थित रहती हैं। यह तीनों नाड़ियाँ कमल-तन्तु के समान अधोमुख करके स्थित रहती हैं। यह तीनों चन्द्र, सूर्य और अग्नि रूपिणी हैं तथा शरीर के पृष्टवश अर्थात् मेरुदण्ड के आश्रय में अवस्थित हैं। उन नाड़ियों के बीच स्थित चित्रा नाड़ी मुझे अत्यन्त प्रिय है। वहीं पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर श्रेष्ठ ब्रह्मरन्ध्र विद्यमान है ॥१६-१८॥

पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा मध्यरूपिणी ।
देहस्थोपाधिरूपा सा सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥१९॥

दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥२०

वह चित्रा नाड़ी पंचवर्णा है, उज्वल और शुद्ध भी है। सुषुम्ना के मध्य में स्थित वही चित्रा नाड़ी शरीर की उपाधि की कारणभूता भी है। यही वह दिव्य मार्ग है, जिसे मैंने अमृत और आनन्द का उत्पन्न करने वाला बताया है। उसके ध्यान करने मात्र से योगीन्द्रों के पापों का विनाश होजाता है।१९-२०।

गुदात्तु द्वयङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्वयंगुलादधः ।
चतुरङ्गुलविस्तारमाधार वर्तते समम् ॥२१
तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना ।
त्रिकोणा वर्त्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२२

गुदा स्थान से दो अगुल ऊपर और मेढ़् से दो अंगुल नीचे, चार अंगुल विस्तार का एक आधार कमल समरूप से विद्यमान है (इसे मूलाधार चक्र कहते हैं)। उस आधार कमल की कर्णिका में त्रिकोणाकार योनि सुशोभित है, जो कि सर्व प्रयत्नों द्वारा गोपनीय है अर्थात् इसे किसी अनधिकारी के प्रति नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अधिकारो पुरुष से गोपन रखना व्यर्थ है।२१-२२।

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्द्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ॥२३
जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ।
वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैनमस्कृता ॥२४

वहीं परमदेवता स्वरूपा कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सुषुम्ना के मार्ग में स्थित रहती है। वह कुटीला अर्थात् टेढी

और विद्युत्-रेखा के आकार की होती है। वह कुण्डलिनी जगत् की संसृष्टि स्वरूपा और सदा निर्माण में उद्यत रहने वाली है। वही वाग्देवी वाच्य-अवाच्य रूप तथा देवताओं के द्वारा भी नमस्कार की हुई है ॥ ३-२४॥

इडानाम्नी तु या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥२५
पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटेगता ॥॥२६

नासिका के वाम भाग में इडा नाम की जो नाड़ी स्थित है, वह सुषुम्ना के साथ मिलकर दाँये नासापुट में गई है। पिंगला नाम की जो नाड़ी दक्षिण नासापुट में रहती है, वह सुषुम्ना के सहारे-सहारे बाँये नासापुट में गई है ॥२५-२६॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्ति षट्पद्मं योगिनो विदुः । २७
पञ्चमस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च ।
प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ॥२८

इडा और पिंगला नाड़ियों के मध्य में ही सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति है। इस सुषुम्ना नाड़ी के छः स्थानों में (डाकिनी हाकिनी, लाकिनी और शाकिनी नाम की यह) छः शक्तियाँ रहती हैं वहीं छः कमल भी विद्यमान हैं अर्थात् मूलाकार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इन छः कमलों को छः चक्र भी कहते हैं। योग के जानने वाले विद्वान इनको जानते हैं।सषुम्ना के पाँच स्थान हैं, जिनके अनेक स्थान हैं, जो कि प्रयोजन होने पर शास्त्रों के द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२७-२८॥

अन्यायाऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः ।
रसनामेढ्रनयनं पादाङ्गुष्ठे च श्रोत्रकम् ॥२९
कुक्षिकक्षाङ्गुष्ठवर्णं सर्वाङ्गं पायुकुक्षिकम् ।
लब्धान्ता वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ॥३०

अन्यान्य नाड़ियाँ मूलाकार से निकल कर जीभ, मेढ्र, नेत्र, पाँवों के अँगूठे, कान, कुक्षि, कक्ष, हाथों के अँगूठे, गुद, उपस्थ आदि अङ्गों में जाकर पूर्ण हुई हैं अर्थात् अपने-अपने उक्त स्थानों तक गई हैं ॥२९-३०॥

एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ।
सार्धं लक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥३१
एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ।
ओतप्रोताभिसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे ॥३२

इन्हीं नाड़ियों से इनकी शाखा-उपशाखाएँ निकल कर क्रमशः साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ अपने-अपने स्थान में जाकर स्थित होगई है। यह सभी नाड़ियाँ भोगवहा अर्थात् भुक्त पदार्थों को इस रूप में प्रवाहित करने वाली है। यह वायु के संचार में अत्यन्त दक्ष एवं संयोग-वियोग से ओतप्रोत होती हुई मनुष्य के कलेवर (देह। में विद्यमान हैं ॥३१-३२॥

सूर्यमंडलमध्यस्थः कला द्वादशसंयुतः ।
बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्नपाचकः ॥३३
वैश्वानराग्निरेषो वै मम तेजोंशसम्भवः ।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहयास्थितः ॥३४

बारह कलाओं से युक्त सूर्यमण्डल के मध्य में जो अग्नि प्रज्वलित रहती है उसके द्वारा अन्न का पाचन होता है। वह

वैश्वानर अग्नि मेरे ही तेज से प्रकट हुई है। यह प्राणियों के देहों में विद्यमान रह कर विविध प्रकार के परिपाक में तत्पर रहती है।३३-३४।

आयु: प्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं ददाति सः।
शरीर पाटवं चापि ध्वस्तरोगसमुद्भवः ॥३५
तस्माद्वैश्वानराग्नि च प्रज्वाल्य विधिवत्सुधीः।
तस्मिन्नं हुनेद् योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥३६

वही वैश्वानर अग्नि आयु, बल और पुष्टि के देने वाली है, उसी से शरीर कान्तिमय होता है और जितने भी रोग हैं, उन सब का नाश हो जाता है। इस वैश्वानर अग्नि को विधि पूर्वक प्रज्वलित करना और फिर उसमें अन्न की आहुति देनी चाहिए। अर्थात् इस वैश्वानर अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए किसी सद्‌गुरु से शिक्षा लेनी चाहिए और जब इसका ठीक प्रकार से प्रज्वलित करना आजाय तब उसके अनुकूल जो अन्न हो, उसका भोजन करे।३५-३६।

ब्रह्माण्डसंज्ञकेदेहे स्थानानि स्युर्बहूनि च।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके।३७
नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च।
वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥३८

यह देह ब्रह्माण्ड संज्ञक है। इसमें अनेकों स्थान भरे पड़े हैं। मैंने यहां प्रधान-प्रधान स्थान बताये हैं, जिन्हें शास्त्री के अध्ययन से जान सकते हैं। उन स्थानों के अनेक नाम हैं, जो इस देह में विद्यमान हैं, हम उन्हें बताने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् यह जो बताया गया, उतना कहना ही बहुत है, उससे अधिक कहना व्यर्थ ही है।३७-३८।

इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्वगः ।
अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मश्रृङ्खलः ॥३९
नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ।
पूर्वार्जितानिकर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥४०

इस प्रकार कल्पित हुए इस शरीर में बसा हुआ जीव अनादि काल से चली आ रहा वासना रूपी माला में घूमता हुआ कर्म की शृंखलाओं में बँधा रहता है। वह अनेक प्रकार के गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार के सभी व्यापारों को किया करता है तथा पहले के उपार्जित शुभ-अशुभ विविध कर्मों के फलों को भोगता है।३९-४०।

यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ।
सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान् भुनक्ति वै ॥४१
ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः ।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥४२

संसार में जितने भी शुभ-अशुभ कर्म दिखाई देते हैं, उन सभी का कारण एक मात्र कर्म ही है। सभी प्राणी कर्मों के अनुसार भोगों को भोगते रहते हैं। अर्थात् प्राणी जो-जो कर्म करते हैं, उन-उन का फल उसे अवश्य भोगना होता है। जो-जो सुख-दु,ख के देने वाले कामादि दोष हैं, वे-वे सभी जीव के कर्मानुसार ही प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के लिए सुख-दुःख की प्रवृत्ति कर्म से ही है। शुभ कर्म से सुख और अशुभ कर्म से दुःख की प्राप्ति होती है।४१-४२।

पुण्योपरक्त चैतन्ये प्राणान् प्रीणाति केवलम् ।
बाह्ये पुण्यतमं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत् ॥४३

ततः कर्म बलात्पुंसः सुखं वा दुखःमेव च ।
पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ।।४४

पुण्य कर्मों के करने से शरीरधारी को सुख की प्राप्ति होती है और पुण्य के फलस्वरूप श्रेष्ठ भोज्य सामग्री अथवा अन्यान्य बाह्य वस्तुएँ उसे स्वतः ही उपलब्ध होजाती हैं। इस प्रकार यह जीव अपने ही कर्म के बल से सुख अथवा दुःख को भोगने के लिए विवश है। वह जब पाप कर्म में आसक्त होता है तब उसे दुःख ही मिलता है, सुख कदापि नहीं मिल सकता, यह निश्चित है। तात्पर्य यह है कि पापकर्म करने वाले को दुःख अवश्य मिलता है। यदि सुख मिलता भी है तो क्षणिक और वह भी पूर्वसंचित पुण्य के फलस्वरूप ही ।।४३-४४।।

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्तो न तुकिञ्चन ।
मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ।।४५

यथाकालेऽपि भोगाय जन्तूनां विविधोद्भवः ।
यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजतारोपणं भवेत् ।
तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत् ।।४६

जीव को अपने ही कर्म के फल को भोगना होता है, क्योंकि कर्म का फल ही दुःख या सुख है। इसलिए जो कर्त्ता है वही भोक्ता है, इसमें कोई संदेह नहीं अर्थात् कर्त्ता से भोक्ता भिन्न नहीं हो सकता। चैतन्य आत्मा से माया से उपहित होने पर ही यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस जीव के भोग के लिए जो काल निश्चित होता है, उसे उसी काल में अपने कर्म-फल का भोग प्राप्त करने के लिए जन्म लेना होता है। जिस प्रकार नेत्र के दोष से शुक्ति में रजत का आरोप होता है, उसी

प्रकार जीव भी अपने ही कर्म.दोष के प्रभाव से ब्रह्म में इस मिथ्या संसार प्रपंच का आरोप कर लेता है ।।४५-४६।।

स वासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिसमर्थनम् ।
उत्पन्नं चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं मोक्षप्रसाधनम् ।।४७

साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे ।
करणं नान्यथायुक्तया सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।४८

जीव को वासना के कारण ही भ्रम उत्पन्न होजाता है और जब तक वासना निर्मूल नहीं होती, तब तक भ्रम भी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब कुछ भी शेष नहीं रहता। इस कारण ज्ञान को ही मोक्ष का साधन समझना चाहिए। जो कुछ भी विशेष दृष्टि से साक्षात् दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष भ्रम का कारण होता है। अर्थात् विशेष रूप से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दृश्यजाल में ही जीव फँस जाता है, वही उसके बन्धन का कारण है। माया का पर्दा पड़ा होने के कारण बुद्धि उस दृश्य प्रपंच से ऊपर नहीं उठती, इसलिए यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। मेरा यह कथन अवश्य ही सत्य है ।।४७-४८।।

साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात् साक्षात्कारिणि नाशयेत् ।
स हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ।।४९

मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शनाद्भवेत् ।
अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्यते रजतभ्रमः ।।५०

यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च ।।५१

यह साक्षात् दृश्यमान पदार्थ का भ्रम तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक कि ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं हो जाता और ब्रह्म का प्रत्यक्ष तभी संभव है जबकि आत्मा का प्रत्यक्ष होजाय। परन्तु संसार के भ्रम की निवृत्ति होना बहुत ही कठिन है। आत्मा का विशेष दर्शन होने पर ही संसार का मिथ्या ज्ञान नहीं मिट पाता। आत्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से उस अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार की शुक्ति में रजत का भ्रम शुक्ति के प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं मिट सकता। क्योंकि जब तक आत्मा के साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता, तब तक जीव को सभी भूत त्रिविध प्रकार के दिखाई देते हैं।४९-५१

यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत्।
तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥५२

जब तक कर्म से अर्जित यह शरीर विद्यमान है तब तक इसके निर्वाण (मोक्ष) का साधन कर लेना चाहिए। अर्थात् इस शरीर के रहते हुए ही आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न कर लेना चाहिए, क्योंकि शरीर के छूटने पर तो कोई साधन हो नहीं सकता, वरन् कर्मानुसार पुनर्देह धारण करना ही होगा। इसलिए आत्मज्ञान में तत्पर होना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा मनुष्य शरीर में जन्म लेकर शरीर का व्यर्थ भार ढोने से लाभ ही क्या हुआ ? अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति में प्रयत्न न करके विषय-भोगों में पड़ा रहना पृथिवी के लिए भार स्वरूप ही है।५२।

यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवसङ्गिनी।
तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम् ॥५३

संसार सागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगसाधनः ।
कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्ज तदाचरेत् ॥५४

जीव के साथ जैसी वासना रहती है, वैसे ही शुभ या अशुभ कर्मों को जीव भ्रम के वशीभूत होकर करता है । क्योंकि उसके उत्पन्न होने या मरने में उसकी वही वासना कारण होती है । इसलिए जो पुरुष संसार सागर से पार जाने की इच्छा रखता हो, उसे फल-रहित रूप से वर्णाश्रम में विहित कर्मों को करना चाहिए । अर्थात् मुमुक्षु साधकों को निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है ।५३-५४।

विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ।
वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ॥५५

विषयों में आसक्त रहने वाले पुरुष सदा ही विषय-सुख में डूबे रहते हैं और उनकी वाणी मोक्ष विषयक वार्तालाप में अवरुद्ध रहती हुई पाप कर्म में ही लगी रहती है । तात्पर्य यह है कि विषयासक्त पुरुषों की वाणी भी मोक्ष-चर्चा में न लग कर केवल विषय-भोगों की चर्चा में ही लगी रहती है । इस प्रकार वे मन, कर्म, वचन से विषय को ही सुख मानते हुए निरन्तर उन्हीं में लगे रहते हैं ।५५।

आत्मानमात्मना पश्यन्न किंचिदिह पश्यति ।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ॥५६
कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ।
अभावे सर्वतत्वानां स्वयं तत्वं प्रकाशते ॥५७

ज्ञानी पुरुष जब आत्मा के द्वारा आत्मा को देखता हुआ अन्य किसी वस्तु को न देखे अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु उसे दिखाई न दे, तब मेरे मत में कर्म का परित्याग कर दे तो उसके लिए कोई दोष नहीं होता। कामादि सभी पदार्थ ज्ञान में लीन होजाते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। जब सभी तत्वों का अभाव हो जाता है, तब स्वयं तत्व अर्थात् आत्म ज्ञान ही प्रकाशित रहता है। तात्पर्य यह है कि काम-क्रोधादि विकारों को छोड़कर आत्मज्ञान की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि आत्मज्ञान की उपलब्धि होने पर कोई भी विकार शेष नहीं रहता ॥५६-५७॥

* शिव संहिता का द्वितीय पटल समाप्त *

तृतीय पटल

योगाभ्यास प्रकरण

हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितम् ।
कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥१

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ।
अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कार संयुतः ॥२

हृदय में एक दिव्य कमल स्थित है, जो कि दिव्य चिन्हों से विभूषित और 'क' अक्षर से 'ठ' अक्षर पर्यन्त बारहों अक्षरों से सुशोभित रहता है। अभिप्राय यह है कि इस कमल के बारह दल हैं, जिनमें से प्रत्येक दल पर क्रमशः क. ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ अंकित हैं। इसी कमल में अनादि कर्म से संश्लिष्ट और अहंकार युक्त वासना से परिपूर्ण प्राण का निवास है ॥१-२॥

प्राणास्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।
वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥३

प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥४

प्राण की वृत्ति के भेद से इस शरीर में विविध नामों वाले जो वायु विद्यमान हैं, उन सभी का वर्णन करने में हम समर्थ नहीं हैं (अथवा उन सब के कहने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है

इसलिए उनमें जो प्रमुख वायु हैं उनका वर्णन यहां किया जाता है) मुख्य प्राण यह दश हैं—(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म (८) कृकल, (९) देवदत्त, और (१०) धनंजय ।३-४।

दश नामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ।
कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ।।५
अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दर्शिताः पुनः ।
तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौं ।।६

शास्त्रों में उक्त दश वायु ही मुख्य माने गये हैं। यह वायु अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर शरीर में कार्य-रत रहते हैं। इन दश वायुओं में भी पाँच वायु प्रधान हैं और उनमें भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, वे मैंने दो ही बतलाये हैं—(१) प्राण और (२) अपान। अर्थात् दश वायुओं में प्राण, अपान समान, उदान और व्यान यह पाँच प्रमुख हैं औरपाँचों में भी प्राण और अपान ही प्रमुख रूप से श्रेष्ठ हैं ।५-६।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।७
नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ।
उद्गारोन्मीलनं क्षुतृट् जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ।।८

हृदय में प्राण और गुदा में अपान रहता है। नाभिमण्डल में समान की और कण्ठ में उदान की स्थिति है। व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। अब नाग आदि पाँच वायुओं के विषयों में बताते हैं—उनका कार्य डकार, हिचकी, जँभाई लेना, भूख प्यास और उन्मीलन अर्थात् निद्राकाल में नेत्रों का बन्द होना आदि है ।७-८।

अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥६
अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥१०

इस विधि से जो मनुष्य, शरीर को ब्रह्माण्ड जान लेता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्त हो जाता है। अब मैं योगसिद्धि के विषय में कहता हूँ—उक्त प्रकार से योग सिद्धि शीघ्र होती है। इस विधि को जानने वाले योगी को योग के साधन में कष्ट प्रतीत नहीं होता। अभिप्राय यह है कि योग-साधन को विधिपूर्वक जान लेने पर साधक को कष्ट नहीं होता और विधि को न जान कर योग साधन करना कष्टकारी प्रतीत होता है।६-१०।

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥११
गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ।
अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ॥१२

गुरु के मुख से सुनी हुई विद्या अवश्य ही वीर्यवती होती है। यदि गुरु के मुख से सुने-समझे बिना हो उसका प्रयोग करे तो फलहीना तो होती ही है, साथ ही निर्वीया और अत्यन्त दुःख दायिनो भी होजाती है। गुरु को सब प्रकार से सन्तुष्ट करके जो विद्या प्राप्त की जाती है, वह विद्या शीघ्र ही फल देने वाली होती है अर्थात् गुरु प्रसन्न होकर विद्या के सब रहस्य शिष्य को बता दें तो उसकी सफलता में विलम्ब नहीं लगता।११-१२।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशयः ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् सर्वैः प्रसेव्यते ।।१३

गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ।
तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभंभवेत् ।।१४

गुरु ही पिता, गुरु ही माता और गुरु ही देवता है, इसमें संदेह नहीं। इसलिए कर्म, मन और वाणी से गुरु की भले प्रकार सेवा करनी चाहिए। क्योंकि गुरु की प्रसन्नता से आत्मा सभी शुभों को प्राप्त कर लेता है, इसलिए गुरु की सेवा नित्य तत्परता के साथ करनी चाहिए, अन्य प्रकार से अर्थात् अश्रद्धा से गुरु-सेवा करना कभी भी शुभ नहीं हो सकता ।।१३-१४।।

प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा स्पृष्टवा सव्येन पाणिना ।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम् ।।१५

श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
अन्येषां च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ।।१६

गुरु की तीन प्रदक्षिणा करके दाँये हाथ से स्पर्श करे और गुरु के चरण-कमलों में अष्टांग से नमस्कार करे। श्रद्धावान् पुरुष को अवश्य ही विद्या की सिद्धि होती है, अश्रद्धावान् को कदापि नहीं होती। इसलिए यत्नपूर्वक साधन करना ही श्रेयस्कर है ।।१५-१६।।

न भवेत् सङ्गयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि ।
गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ।।१७

मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठूरभाषिणाम् ।
गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात् कदाचन ।।१८

सांसारिक व्यवहार में लिप्त मनुष्यों का संग करने से योग-विद्या की सिद्धि संभव नहीं है और न अविश्वासी साधकों को ही सिद्धि हो सकती है। जो पुरुष गुरु की पूजा नहीं करते या अधिक लोगों का संग करते हैं वे भी असफल रहते हैं। मिथ्या और कठोर वचन बोलने वाले या गुरु को सन्तुष्ट न रखने वाले साधकों को भी सिद्धि नहीं मिल सकती ॥१७-१८॥

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्त तृतीयं गुरुपूजनम् ॥१९
चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥२०

सिद्धि का प्रथम लक्षण है विश्वास का होना। अविश्वास होने पर उसकी संभावना ही नहीं है। दूसरा लक्षण है साधक का श्रद्धायुक्त होना और तीसरा लक्षण है गुरु-पूजन में तत्पर रहना। चौथा लक्षण जीवमात्र में समानता का भाव रखना है। पाँचवां चिन्ह इन्द्रियों का संयम रखना और छठा चिन्ह है परमित भोजन करना। इस प्रकार योगसिद्धि के छः चिन्ह हैं, कोई सातवां चिन्ह नहीं है ॥१९-२०॥

योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ।
गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चत्य साधयेत् ॥२१
सुशोभने मठे योगी सद्मासनसमन्वितः ।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥२२

योग के ज्ञाता गुरु से योग का उपदेश प्राप्त करके गुरु द्वारा बतायी हुई विधि के अनुसार बुद्धि पूर्वक निश्चय करता हुआ साधक साधन में तत्पर रहे। सुन्दर, स्वच्छ मठ में स्थित होकर

योगी पुरुष पद्मासन लगा कर श्रेष्ठ आसन पर बैठे और प्राणायाम का अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जहां बैठकर साधन किया जाय वह स्थान एकान्त, स्वच्छ और साधन के लिए सब प्रकार से अनुकूल हो। मठ का तात्पर्य कुटी या देवालय भी हो सकता है।२१-२२।

प्राणायाम-विधि

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालाम्बिकां पुनः ॥२३
ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्धय पिङ्गलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्।
ततस्त्यक्त्वा पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ॥२४

शरीर को समान सीधा) रख कर, हाथों को जोड़ता हुआ गुरु को प्रणाम करे और दाँये, बाँये भाग में विघ्नों को नष्ट करने वाले गणेश जी को, क्षेत्रपाल को और भगवती अम्बिका प्रणाम करे। तत्पश्चात् दाँये हाथ के अँगूठे से पिंगला नाड़ी (दाँये नासारन्ध्र) को रोक कर इडा नाड़ी (बाँये नासारन्ध्र) से यथाशक्ति वायु को खींच कर रोके और फिर पिंगला द्वारा धीरे धीरे बाहर निकाल दे। अर्थात् बाँयीं नासिका से पूरक (वायु को खींचना) करके कुम्भक द्वारा (वायु को रोके) और फिर दाँयी नासिका से रेचक करे अर्थात् वायु को निकाल दे। पूरक, कुम्भक और रेचक, यह तीनों प्राणायाम के ही अङ्ग है।२३-२४।

पुनः पिङ्गलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्।
इडयारेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः ॥२५

इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥२६॥

इसी प्रकार फिर पिंगला नाड़ी से पूरक करके अर्थात् दाँयी नासिका से वायु खींच कर कुम्भक करे और फिर इडा (बांयी नासिका) से धीरे-धीरे वायु को निकाले, वेग-पूर्वक न निकाले, इस प्रकार योग के विधान से बीस बार कुम्भक करता हुआ सभी द्वन्द्वों से मुक्त होजाय। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ साधक वायु को वश में कर ले तो फिर उसके लिए कोई कष्ट शेष नहीं रहता ॥२५-२६॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्धरात्रके ।
कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥२७॥

नाड़ी-शोधन

इत्थं मासद्वय चुर्यादिनालस्यो दिने दिने ।
ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥२८॥

ऊपर कही हुई विधि से नित्य प्रति प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय अर्थात् चार बार कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार यदि आलस्य का त्याग करके नित्य नियमपूर्वक दो महीने तक प्राणायाम करता रहे तो नाड़ी-शुद्धि में विलम्ब नहीं होता अर्थात् निश्चित ही शुद्ध हो जाती है ॥२७-२८॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोपश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥२९॥
चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यते नाडिशुद्धितः ।
कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥३०॥

जब तत्वदर्शी योगी की नाड़ी शुद्ध होजाती है तब सभी दोष नष्ट होजाते हैं और योगाभ्यास का आरम्भ किया जा सकता है। नाड़ी शुद्ध होने के पश्चात् योगी के देह में जो चिह्न दिखाई देते हैं उन सभी की मैं संक्षेप में कहता हूँ ॥२९-३०॥

समकायः सुगन्धिश्च सुकान्तिः स्वरसाधकः ॥३१॥
आरम्भभटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥३२॥

नाड़ी शुद्ध होने पर योगी का शरीर सम होजाता है(अर्थात् तब वह न मोटा रहता है, न पतला, वरन् साँचे में ढले हुए के समान सर्वांग में सम होता है), शरीर में सुगन्ध आने लगती है श्रेष्ठ कान्ति अर्थात् उज्वल तेज दिखाई देता है, स्वर का साधन होकर उसमें माधुर्य आजाता है। इस समय इन आरम्भिक लक्षणों के साथ योग का पूर्ण ज्ञान होजाता है, यही योगावस्था कही जाती है ॥३१-३२॥

आरम्भः कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धिये ।
अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥३३॥
प्रौढवह्निः सुभोगी च सुखी सर्वाङ्गसुन्दरः ।
सम्पूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहबलान्वितः ।
जायते योगिनोऽवश्यमेते सर्वकलेवरे ॥३४॥

प्राणवायु की सिद्धि के आरम्भ में मेरे द्वारा कहे हुए उक्त लक्षण होते हैं। अब मैं वह फल भी बतलाता हूं, जिससे सभी दुःखों का नाश होजाता है। शरीर में जठराग्नि की वृद्धि होने लगेगी, सभी अंग सुन्दर होजायगे, वह श्रेष्ठ सुखदायक भोग (अथवा भोजन) को प्राप्त होगा और सब प्रकार के उत्साहमय

बल से समन्वित होजायगा। उस योगी के सब शरीर में इस प्रकार के परिवर्तन अवश्य ही होंगे ॥३३-३४॥

अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं परम्।
येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ॥३५॥

आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटुम्।
बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैलविदाहकम् ॥३६॥

अब उन विघ्नों को कहता हूँ, जिनका उल्लंघन करने वाला दुःखों के समुद्र रूप संसार सागर से तर जाता है। खट्टे, रूखे, तीखे, नमकीन, सरसों के पदार्थ और कटुपदार्थ आदि का भोजन करना, बहुत घूमना, प्रातःकाल स्नान करना और शरीर में तैल की मालिश करना योगी के लिए वर्जित है ॥३५-३६॥

स्तेयं हिंसां जनद्वेषं चाहङ्कारमनार्जवम्।
उपवासमसत्यञ्च मोहञ्च प्राणपीडनम् ॥३७॥

स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम्।
अतीव भोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम् ॥३८॥

वस्तु चुराना, हिंसा करना, मनुष्यों में द्वेष करना, अहंकार का भाव रखना, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम न रखना, उपवास करना, असत्य बोलना, मोह रखना, प्राणों को पीड़ित करना, स्त्री प्रसंग करना, अग्नि सेवन करना, अधिक बोलना, प्रिय-अप्रिय वचन कहना, बहुत भोजन करना आदि को अवश्य त्याग देना ही योगी का कर्त्तव्य है ॥३७-३८॥

उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।
गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत् खलु ॥३९॥

घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम् ।
कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुपठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।।४०।।

अब मैं वह उपाय बतलाता हूँ, जिसके द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र होती है। इसे गोपनीय रखने वाले साधक को अवश्य ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। घृत, दूध, ताम्बूल व चूर्ण से रहित भोजन करे। कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों का कभी सेवन न करे (क्योंकि ऐसे द्रव्य उत्तेजक होते हैं), कठोर वचन न बोले, मीठा बोले, श्रेष्ट कुटी या अनुकूल वातावरण के स्थान गुफा आदि में रहे और सूक्ष्म वस्त्र पहिने अर्थात् मर्दन और अल्प वस्त्र धारण करे ।।३९-३०।।

सिद्धान्तश्रवणं नित्यंवैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणे परम् ।।४१।।
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम् ।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत् ।।४२।।

सिद्धान्त ग्रन्थों (वेदादि) का श्रवण करे, सदा वैराग्य युक्त भाव से घर में रहे, ईश्वर का नाम संकीर्तन करता रहे, जो कुछ सुने, वह शुभ ही सुने अर्थात् बुरी बातों को कभी न सुने। धृति, क्षमा, तप, शौच और लज्जा का भाव रखे, गुरु की सेवा में लगा रहे। इस प्रकार से नियमों में सदा तत्पर रहने वाला योगी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।।४१-४२।।

अतिलोऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ।।४३।।
सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधितेनाभ्यासः क्रियते बुधैः ।
अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यभोजनम् ।।४४।।

सूर्य नाड़ी अर्थात् दाँयी नासिका में स्थित पिंगला नाड़ी का प्रवाह रहने पर योगी को भोजन करना चाहिए तथा चन्द्र (इडा) नाड़ी में वायु का प्रवाह रहे तब शयन करना ठीक है। भोजन करने के तुरन्त बाद अथवा भूखा होतो कभी भी अभ्यास न करे। अभ्यास काल के पूर्व दूध-घी का भोजन करना चाहिए।४३-४४।

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ् नियमग्रहः ।
अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥४५॥
पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान् पतिवासरे ।
ततो यथेष्टाशक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ॥४६॥

जब अभ्यास दृढ़ हो जाय, तब उक्त नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं रहती। योग भ्यासी को थोड़ा-थोड़ा भोजन अनेक बार करना चाहिए। नित्य प्रति पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक करे (अर्थात् प्राणायाम करते हुए वायु रोकने का अभ्यास करना चाहिए। इससे कुम्भक सिद्ध होजाता है और साधक को इच्छानुसार वायु के धारण करने की शक्ति प्राप्त होजाती है।४५-४६।

यथेष्टं मारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यति ध्रुवम् ।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिन ॥४७॥
स्वेदः संजायते देहे योगिनः पृथमोद्यमे ॥४८॥
यदा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत्सुधीः ।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ॥४९॥

वायु के यथा शक्ति वश में कर लेने पर कुम्भक सिद्ध होता है और जब केवल कुम्भक सिद्ध होजाता है तब योगी क्या नहीं कर सकता? अर्थात् उसके लिए कोई भी कार्य कठिन नही होता योगी के देह में पहली बार के प्रयत्न से पसीना आता है, उस

उत्पन्न हुए पसीना का देह में ही मर्दन कर ले। यदि पसीना को देह में ही न मल लेगा तो धातु नष्ट होजायगा ॥४७-४९॥

द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगने चरसाधकः ॥५०॥
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते ।
वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ॥५१॥

दूसरी बार के प्रयत्न से कम्प होता है और तीसरी बार में मेंढल की वृत्ति होती है अर्थात् मेंढक जिस प्रकार उछलता और फिर पृथिवी पर आ जाता है, वैसे ही अभ्यास करने वाले का आसन भूमि से ऊँचा उठता और फिर भूमि पर आजाता है। जब अभ्यास उससे भी अधिक दृढ़ होजाता है तब साधक स्वेच्छा पूर्वक आकाश में गमन कर सकता है ॥५०-५१॥

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ॥५२॥
अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ।
स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ॥५३॥

योग सिद्धि के लिए तब तक योगशास्त्रोक्त नियमों का पालन करे जब तक कि वायु की सिद्धि न होजाय और जब तक उसे अल्प निद्रा और अल्प मल-मूत्र न होने लगे। तात्पर्य यह है कि जब योगी को नींद कम आने लगे और मल-मूत्र भी कम आवे तो समझना चाहिए कि योग की सिद्धि होती जारही है। तत्व-दर्शी योगियों के लिए शारीरिक और मानसिक वेदना नहीं हो पाती और न पसीना, लाला (लार) का स्राव एवं कृमि की ही सर्वथा उत्पत्ति होती है ॥५२-५३॥

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ॥५४॥
अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः ।
अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
यथा दर्दुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ॥५५॥

साधक के देह में कफ, पित्त और बात दूषित नहीं होते। पहले कहे हुए समय तक योगी को भोजन आदि पर संयम रखना आवश्यक है। योगी यदि अत्यधिक भोजन करले अथवा बहुत कम खाय तो भी उसे कुछ कष्ट नहीं होता और अभ्यास करते-करते उसे भूचरी विद्या की सिद्धि होजाती है, जिस प्रकार मेंढक हाथ मार कर पृथिवी में घुसता है, वैसे ही योगी भी हाथ से ताड़न करके पृथिवी में प्रविष्ट होता है ॥५४-५५॥

सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ।
तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥५६॥

योगाभ्यास में अनेकों अति दारुण विघ्न उपस्थित होजाते हैं, उनका शमन होना अत्यन्त कठिन है। फिर भी साधक का कर्त्तव्य है कि जब तक प्राण कण्ठगत होजाँय, तब तक साधन में तत्पर रहे। अर्थात् साधना में धैर्य की आवश्यकता होती है, इस लिए विघ्नों के उपस्थित होने पर निराश न होजाय ॥५६॥

ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेन्द्रियः ।
प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ॥५७॥
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।
नाशयेत् साधको धीमानिह लोकोद्भवानि च ॥५८॥

साधक को उन विघ्नों को नष्ट करने के लिए इन्द्रियों को वश में करने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही एकान्त स्थान में बैठ कर मनोयोग पूर्वक स्पष्ट रूप से उच्चारण करते हुए ओंकार का जप भी करे। विद्वान साधक पूर्वजन्मों के अर्जित कर्म और इस जन्म में किये गये कर्म, इन सबके फल को प्राणायाम से अवश्य ही नष्ट कर डालता है। अर्थात् प्राणायाम की स्थिरता से सब प्रकार के कर्मों का नाश होसकता है ॥५७-५८॥

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ।
नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुङ्गवः ॥५९॥
पापतूलचयानाहो प्रलयेत्प्रलयाग्निना ।
ततः पापविनिर्मुक्त पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ॥६०॥

योगियों में श्रेष्ठ साधक पूर्वजन्मों के अर्जित पाप पुण्य रूप कर्मों को सोलह प्राणायाम करके ही नष्ट कर डालता है। वह योगी पापों के समूह को प्राणायाम द्वारा वैसे ही कर देती है जैसे कि अग्नि तृण को देखते-देखते भस्मसात कर डालता है। अर्थात् प्राणायाम की अग्नि में पाप रूपी तृण सहज में जल जाते हैं और तब इस प्रकार पापों से निर्मुक्त हुआ योगी पुण्यों को भी उसी अग्नि में होम देता है, अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पापों का भस्म होना आवश्यक है, उसी प्रकार पुण्यों का भस्म होना भी आवश्यक है। जब पाप-पुण्य दोनों का ही सर्वथा क्षय होजाता है, तभी मोक्ष मिल सकती है ॥५९-६०॥

प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ।
पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतमियात् ॥६१॥

श्रेष्ठ योगी पुरुष प्राणायाम के द्वारा अष्ट सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्या, ईशिता और वशिता)

प्राप्त करता है तथा पाप-पुण्य के समुद्र रूपी संसार-सागर से पार होकर तीनों लोकों में इच्छानुसार विचरण कर सकता है।

ग्रन्थकार ने उक्त सिद्धियों के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए अपनी ओर से कह देना उपयुक्त ही होगा—

अणिमा—योगी अपने देह को इच्छा मात्र से अणु के समान सूक्ष्म बना सकता है।

महिमा—योगी अपनी प्रकृति को वश में करके शरीर को बहुत बड़े आकार का बना सकता है।

गरिमा—अल्प भार वाले देह को पर्वत के समान भारी कर सकता है।

लघिमा—पर्वत जैसे भार को रुई के समान हल्का बना सकता है। अथवा अपने शरीर को हल्का करने में समर्थ होता है।

प्राप्ति—दूर में विद्यमान पदार्थों को अपने स्थान पर बैठे हुए ही स्पर्श कर सकता या प्राप्त कर सकता है।

प्राकाम्य—इस सिद्धि के द्वारा साधक अपनी कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ होता है। अथवा लोगों को इच्छित प्रदान कर सकता है।

ईशित्व—शरीर और मन के आन्तरिक संस्थानों या चक्रों पर पूर्ण प्रभुता प्राप्त करता हुआ संसार के सभी पदार्थों का इच्छानुसार प्रयोग करने में शक्य होता है।

वशित्व—सभी परिस्थितों को अपने अनुकूल रखने और संसार के सभी प्राणियों को अपने वश में रखने में समर्थ होता है।

इस प्रकार प्राणायाम के प्रभाव से उक्त सिद्धियों के प्राप्त होने पर सर्वत्र गमन की शक्ति आजाती है ॥६१॥

ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ।
येन स्यात्सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम्।।६२।।

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ।
दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टि परकायप्रवेशनम् ।।६३।।

उक्त प्रकार से क्रम पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास होने पर प्राणवायु के तीन घड़ी तक रोके रखने की शक्ति होजाय, तब योगी अपनी इच्छा के अनुसार सभी सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है, यह सत्य है। वह वाक् सिद्धि में समर्थ हो जाता है यानी जिस विषय को न जानता हो उस पर भी बोल सकता है अथवा शास्त्र का व्याख्यान या कविता आदि कर सकता है। स्वेच्छाचारिता की सामर्थ्य और दूर दर्शन की शक्ति आजाती है। दूर श्रुति अर्थात् सुदूर के शब्दों को भी सुन सकता है, सूक्ष्म दर्शन अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को देख सकता है और दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो सकता है ।।६२-६३।।

विण्मूत्रलेपनं स्वर्णसदृश्यं करणं तथा ।
भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ।।६४।।
यदा भवेद् घटावस्था पवनाभ्यासने परा ।
तदा संसारचक्रेऽस्मिन् तन्नास्ति तन्न साधयेत् ।।६५।।

वह अपने जिस मलमूत्र को लेप कर दे तो वह स्वर्ण के समान होजाता है। योगी को अदृश्य होने की शक्ति प्राप्त हो जाती तथा आकाश में उड़ने की सामर्थ्य होजाती है। इन सभी कार्यों को योगी पुरुष कुम्भक को सिद्ध करके पूर्ण कर सकता है, इसके पश्चात् उसकी घटावस्था हो सकती है और वायु के

अभ्यास में परायण योगी घटावस्था में संसार में ऐसा कुछ भी नहीं होता जो उसे प्राप्त न हो सके ॥६४-६५॥

प्राणापाननादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः ।
मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ॥६६॥
याममात्रं यदा धर्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ।
प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नान्तरा भवति ध्रुवम् ॥६७॥

घटावस्था क्या है ? यह बताते हैं कि प्राण, अपान, नाद, विन्दु, जीवात्मा और परमात्मा जब एकत्र होजाँय तब योगी की घटावस्था कहलाती है। जब योगी में याममात्र अर्थात् एक प्रहर तक वायु-धारण की शक्ति होजाय तब साधन में अन्तर न आने पर अवश्य ही अद्भुत प्रत्याहार हो सकता है ॥६६-६७॥

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥६८॥

योगी को जिस जिस पदार्थ की जानकारी हो, उसी-उसी पदार्थ में उसे आत्मा की भावना करनी चाहिए। जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस पदार्थ का बोध होता हो, उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रियजय होजाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे चक्षु से रूप का या कानों से शब्द का बोध होता है, तब उस रूप अथवा शब्द में आत्मभाव करने से चक्षु रूप में आसक्त न होंगे और कान शब्द में आसक्त न होंगे तो चक्षु या कान रूप इन्द्रिय स्वयं ही वश में होजायगी। यही अन्य इन्द्रियों और उनके विषयों के सम्बन्ध में समझना चाहिए ॥६८॥

यामातात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम् ॥६९॥

दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठेद्वातुलवत् सुधीः ॥७०॥

जब एक बार पूरे एक प्रहर अर्थात् तीन घन्टे तक योगाभ्यास द्वारा कुम्भक की स्थिरता रहे अथवा आठ घड़ी तक वायु को निश्चल रख सके तो अपने ही सामर्थ्य से केवल पाँव के एक अँगूठे से खड़ा रहने की शक्ति आजाती है। परन्तु योगी को उस सामर्थ्य की गोपनीयता रखने के लिए विक्षिप्त जैसी चेष्टा प्रदर्शित करनी चाहिए। आशय यह है कि योगी अपने शक्ति-प्रदर्शन का प्रयत्न कभी भी न करे ॥६९-७०॥

ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत् ।
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ।
वायुः परिचितो वायुःसुषुम्णा व्योम्नि संचरेत् ॥७१॥
क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्वा सुनिश्चितम्॥७२॥

तदनन्तर अभ्यास करते-करते योगी को परिचय अवस्था की प्राप्ति होजाती है। जब वायु चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी का त्याग करके निश्चल होजाता है तब वायु-परिचित होकर मार्ग से आकाश में संचार करता है तब क्रिया शक्ति को ग्रहण किये हुए योगी अवश्य ही चक्रों के भेदने में समर्थ होता है। आशय यह है कि परिचयावस्था की उपलब्धि से योगी को षट्चक्र भेदन की सामर्थ्य प्राप्त होजाती है और वह अवस्था या क्रिया अभ्यास से ही सिद्ध होती है ॥७१-७२॥

यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ।
त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चतम् ॥७३॥

ततश्च कर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ।
स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ॥७४॥

जब अभ्यास के योग से परिचयावस्था की प्राप्ति होजाती है, तब योगी अवश्य ही त्रिकूट कर्मों को देख सकता है। यहाँ
है। तब योगी अवश्य ही त्रिकूट कर्मों को देख सकता है। यहाँ
त्रिकूट कर्मों का अर्थ है आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक कर्म। मानसिक दुःख आध्यात्मिक, भूत प्रेतादि से होने वाला कष्ट अधिभौतिक और कर्मानुसार देवादि से प्राप्त कष्ट आधिदैविक कहलाते हैं। यह त्रिकूट कर्म हैं। योगी को इनका ज्ञान होजाता है और वह ओंकार के जप के प्रभाव से उस त्रिकूट कर्म का नाश करने में समर्थ होता है यदि उसे अपने पूर्वाजित कर्मों के भोगने की इच्छा होती है तब वह उन्हें भोग सकता है ॥७३-७४॥

अस्मिन्काले महायोगी पंचधा धारण चरेत् ।
येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो भूतभयापहा ॥७५॥
आधारे घटिकाः पंच लिंगस्थाने तथैव च ।
तदूर्ध्वं घटिकाः पंच नाभिहृन्मध्यकं तथा ॥७६॥
भ्रूमध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत् सुधीः ।
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवेत् खलु ॥७७॥
मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत ।
शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥७८॥

जब योगी पाँच प्रकार की धारणा को सिद्ध कर लेता है, तब वह पंचभूतों की धारणा में सिद्ध होजाता है। फिर उन भूतों से किसी प्रकार का भय नहीं होता। आधार चक्र में वायु को पाँच घड़ी अर्थात् दो घण्टे तक धारण करे, फिर उससे ऊपर

स्वाधिष्ठान चक्र में दो घण्टे तक धारण किये रहे। इसी प्रकार मणिपूर चक्र में और अनाहत चक्र में भी दो-दो घण्टे तक वायु-धारण करने का विधान है। फिर विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र में भी पाँच-पाँच घड़ी तक ही वायु-धारणा का अभ्यास करे। इस प्रकार गुदा, मेढ़्, नाभि हृदय, कण्ठ और भृकुटियों के मध्य में स्थित षट्चक्रों में वायु-धारण करने के इस अभ्यास में सिद्ध होने वाले योगी का पंचभूतों के द्वारा नष्ट होना कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार के अभ्यास को दृढ़ता द्वारा पचभूतों की धारणा करने वाला योगी सौ ब्रह्माओं का मृत्यु-काल पूर्ण होने पर भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता ।।७५-७८।।

ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्ति र्योगिनो भवेत् ।
अनादिकर्मबोजानि येन तीर्त्वाऽमृत पिवेत् ।।७९।।
यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन कर्मणा ।
जोवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ।।८०।।

इस प्रकार के अभ्यासक्रम के द्वारा योगी को ज्ञान की प्राप्ति होती है और तब वह अनादि काल से चले आते हुए कर्मबीज का उल्लंघन (नाश) करता हुआ अमृत का पान करने में समर्थ होता है और जब अपने अभ्यास रूपी कर्म से योगी को समाधि का ज्ञान होजाता है तब वह ज्ञान-सम्पन्न हुआ समाधि में मग्न हो जाता है अर्थात् ज्ञान की सम्पन्नता होने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होने में देर नहीं लगता ।।७९-८०।।

यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत् ।।८१।।
गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते ।।८२।।

इस प्रकार ज्ञान की सम्पन्नता होने पर समाधि भी इच्छानुसार होती है। अर्थात् समाधि में जिस ध्येय का ध्यान किया जाता है, उसी में चित्त नितान्त लीन होजाता है। वह योगी वायु की चैतन्यता को ग्रहण करता हुआ क्रियाशील को वेगवती बना लेता है और सभी चक्रों को जीतकर ज्ञानशक्ति में विलीन होजाता है अर्थात् आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान में ही तन्मय हो जाता है ॥८१-८२॥

इदानी क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येन संसारचक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेद्ध्रुवम् ॥८३॥
रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः ।
पिबेत् प्राणानिलं तस्य रोगाणा सक्षयो भवेत् ॥८४॥

शिवजी कहते हैं कि अब मैं क्लेशों को नष्ठ करने लिए प्राण वायु के उस साधन को कहता हूँ जिससे कि इस संसार चक्र में होने वाले रोगों का निश्चय ही नाश होजाना है। आशय यह है कि साधक को मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना आवश्यक है। अन्यथा साधना में चित्त नहीं लगेगा। इसीलिए शिवजी ने रोगनाशक उपाय कहा है कि यदि जिह्वा को तालुमूल में स्थित करके प्राणवायु का पान करे तो साधक के सभी रोगों का अवश्य नाश होजाता है ॥८३-८४॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो विचक्षणः ।
प्राणापानविधानज्ञः स भवेन्मुक्ति भाजनः ॥८५॥
सरसं यः पिवेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥८६॥

प्राण, अपान के विधि-विधान का जानने वाला जो साधक कौए की चौंच के समान मुख-मुद्रा बनाकर शीतल वायु को

पीता है, वह साधक अवश्य ही मोक्ष का भाजन है। जो विद्वान विधि सहित नित्य प्रति सरस वायु का पान करता है, उसके सभी रोग, श्रम, दाह और वृद्धावस्था आदि का शीघ्र नाश हो जाता है। आशय यह है उक्त प्रकार का साधन करने वाले के सभी रोग नष्ट होजाते हैं अथवा उसे कोई रोग बुढ़ापा, कष्ट आदि दुःख नहीं होते ॥८५-८६॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिवेत् ।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चतम् ॥८७॥
राजदन्तबिलं गाढं संपोड्य विधिनापिबेत् ।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥८८॥

जो योगी जीभ को ऊँची करके अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र मार्ग में ले जाकर चन्द्रमा से निकलते हुए अमृतरस का पान करता है, वह एक महीने में ही मृत्यु को अवश्य जीत लेता है अर्थात् दीर्घ जीवी हो जाता है और वह मरने से नहीं डरता। जीभ को ऊँची करके अमृत-पान करना खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया है। जो योगी नीचे के दाँत से राजदन्त को दबाकर उसके छिद्र के द्वारा विधि पूर्वक वायु को पीता है और साथ ही कुण्डलिनी देवी का ध्यान करता है तो वह छः महीने में ही कवि होजाता है ॥८७-८८॥

काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि ।
कुडलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शांतये ॥८९॥
अहर्निशं पिबेद्योगी काकचञ्च्वा विचक्षणः ।
पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगानां संक्षयो भवेत् ।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥९०॥

ऊपर कही हुई काकी मुद्रा की विधि से जो योगी दोनों सध्याओं में कुण्डलिनी के मुख का ध्यान करता हुआ प्राणवायु का पान करता है, उसका क्षय रोग शीघ्र ही शान्त होजाता है। जो विद्वान् योगी कौए की चौंच जैसी मुद्रा बनाकर दिन-रात प्राणवायु का पान करते हैं, उनके रोग अवश्य नष्ट हो जाते हैं तथा उनमें दूर के शब्द श्रवण की शक्ति प्राप्त होकर दूर दर्शन की क्षमता भी उपलब्ध हो जाती है। इस प्रकार वह सूक्ष्म वस्तुओं के देखने में भी समर्थ होजाता है।८९-९०।

दन्ते दंतान् समापीडच पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
उर्द्ध जिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥९१
षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयत्ते हि सः ॥९२

जो मेधावी पुरुष दांत के द्वारा दांत को पीड़ित करके तथा जीभ को ऊपर करके शनैः शनैः वायु पान करता है, वह शीघ्र ही मृत्यु को जीत कर चिरजीवी होजाता है। जो योगी इस अभ्यास को नित्यप्रति करता है, वह छः महीने में ही सब पापों से मुक्त होजाता है और उसके सभी रोग नष्ट होजाते हैं ॥९१-९२।

संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ॥९३
वर्षत्रयकृताभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥९४

यदि उक्त प्रकार से एक वर्ष तक अभ्यास करता रहे तो अवश्य ही मृत्यु को जीत लेताहै, इसलिए,योग साधन करने वाले

मुमुक्षु को प्रयत्न-पूर्वक इसका साधन करना चाहिए। यदि इस प्रकार का साधन तीन वर्ष तक कर लिया जाय तो निश्चय ही भैरव हो जाता है (अर्थात् भैरव के समान सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है) साथ ही अणिमादि अष्ट सिद्धियों की उपलब्धि होती है और उस साधक के वश में समस्त भूतगण स्वयं ही हो जाते है ॥९३-९४॥

रसनामूर्द्धगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥९५
रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥९६

यदि योगी की जीभ आधे क्षण के लिए भी ऊपर स्थित हो जाय तो क्षणभर में ही सभी रोग, जरा-मरण का नाश होजायगा आशय यह है कि खेचरी मुद्रा द्वारा अमृत का स्वल्प पान कर ले तो अमर हो जाता है। जो पुरुष जीभ को प्राण के सहित पीड़ित करके ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान से अवस्थित होजाता है, उसकी मृत्यु नहीं हो सकती है, मेरा यह कथन नितान्त सत्य है ॥९५-९६॥

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥९७
अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥९८
न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते स सुरैरपि ।
पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ॥९९

इस प्रकार योगाभ्यास करने वाला योगी द्वितीय कामदेव होजाता है। (अर्थात् कामदेव के समान रूप-लावण्य युक्त होता

है) और उसे कभी भूख, प्यास, निद्रा या मूर्च्छा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। इस विधान से अभ्यास करने वाला योगी संसार में सभी दुःखों से रहित होकर इच्छानुसार आचरण करने में समर्थ होता है और किसी प्रकार की भी आपत्तियों में नहीं फँसता। वह किसी प्रकार के पुण्य-पाप में भी लिप्त नहीं होता और न संसार में पुनर्जन्म ही धारण करता है। वह दिव्यलोक में विचरण करने में समर्थ होने के कारण देवताओं के साथ सुख पूर्वक विचरण करता है। अर्थात् वह सब प्रकार से समर्थ होकर सभी दिव्यताओं को प्राप्त कर लेता है ॥९७-९९॥

आसनों का वर्णन

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्॥
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम् ॥१००

यद्यपि योगासन बहुत प्रकार के हैं, उनमें चौरासी प्रमुख हैं। उनमें भी चार अति प्रमुख माने जाते हैं, उन्हें मैं बताता हूँ—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन। आशय यह कि यह चार आसन अधिक सरल और अत्यन्त उपयोगी हैं। इनके द्वारा प्राणवायु भी सहज में ही वशीभूत होता है ॥१००॥

सिद्धासन वर्णन

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित्सदा ॥१०१
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेषोऽवक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः।
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥१०२

योग का जानने वाला साधक योनि स्थान को पाँव की एड़ी से पीड़ित करे और द्वितीय पाँव की एड़ी को मेढ़् के मूल स्थान पर रखे तथा भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे और जितेन्द्रिय रहता हुआ, शरीर को सीधा, वेग-रहित रखे अर्थात् मन में किसी प्रकार की उत्तेजना या आवेश न आने दे। (इसप्रकार शान्त चित्त और स्थिर दृष्टि से आसन लगा कर बैठे) यह सिद्धों को भी सिद्धि प्रदान करने वाला सिद्धासन के रूप से जाना जाता है ।१०१-१०२।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।।१०३
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ।।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ।।१०४

इस प्रकार योगाभ्यास करते-करते योग का ज्ञान शीघ्र ही होजाता है। इसलिए यह सिद्धासन वायु का अभ्यास करने वाले साधक को अवश्य करना चाहिए। इसके प्रभाव से संसार-सागर से मुक्त होकर योगी परमगति को प्राप्त होता है। यह आसन सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त गोपनीय है, जिसका ध्यान करने मात्र से योगी की सब पापों से मुक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि यह आसन बहुत उपयोगी और शीघ्र फलकारी है, इसके सिद्ध होने पर योगी को सर्व लाभ की प्राप्ति होती है ।१०३-१०४।

पद्मासन वर्णन

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ।।१०५

नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलंच जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥१०६
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदर शनैः ।
यथाशक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥१०७
इदंपद्मासन प्रोक्तं सर्व व्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥१०८

दोनों पाँवों को उत्तान या सीधे करके उन्हें प्रयत्न पूर्वक जंघा पर रखे तथा दोनों हाथों को भी उत्तान अर्थात् सीधे फैला कर जाँघों के बीच में लेजाय और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे। फिर जीभ को दाँतों के मूल में स्थापित करके हृदय पर ठोड़ी को लगाले और अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर यथाशक्ति धीरे-धीरे पूरक द्वारा प्राण वायु को धारण करे अर्थात् कुम्भक करे और फिर धीरे-धीरे ही रेचक द्वारा वायु को निकाल दे। इस प्रकार के अभ्यास से यह पद्मासन सिद्ध होजाता है। यह आसन सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला और अत्यन्त दुर्लभ है। इसे योग के जानने वाला विद्वान साधक ही सिद्ध कर सकता है। तात्पर्य यह है कि इस आसन की सिद्धि उसी को हो सकती है, जिसे इसका ठीक प्रकार से ज्ञान हो। जिसे इसके विषय में पूरी जानकारी न हो उसको इसकी सिद्धि नहीं हो सकती ।१०५-१०८।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥१०९
पद्मासने स्थितौ योगी प्राणापानविधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥११०

इस प्रकार उक्त आसन का अनुष्ठान करने वाले साधक के प्राण सम हो जाते और सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। इससे साधक की सम अवस्था हो जाती है, इसमें संदेह नहीं। जो योगी पद्मासन में स्थित होकर प्राण, अपान वायुओं को विधिवत् एक करने का अभ्यास सिद्ध कर लेता है, वह निश्चय ही संसार-सागर से मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०९-११०॥

उग्रासन वर्णन

प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतम् ।
स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ॥१११
आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ।
देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥११२
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।
वायुः पश्चिममार्गेण तस्य संचरति ध्रुवम् ॥११३

दोनों पाँवों को साथ-साथ मिलाकर और फैलाकर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ ले और जानु पर शिर को रख ले। यह उग्रासन कहलाता है, इससे वायु का दीपन होता है तथा मृत्यु का भी नाश होता है। इस सर्वश्रेष्ठ आसन को पश्चिमोत्तान आसन भी कहते हैं। बुद्धिमान योगी को इसका साधन नित्य प्रति नियम पूर्वक करना चाहिए। इसके अभ्यास से साधक का वायु पश्चिम मार्ग से निश्चय ही संचार करता है ॥१११-११३॥

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धमात्मनः ॥११४
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघनाशिनी ॥११५

इस प्रकार अभ्यास में लग रहने वाले साधकों को सब प्रकार की सिद्धि होजाती हैं। इसलिए योगी का कर्त्तव्य है कि वह आत्मा की सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। यह आसन प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है। इसे हर किसी को देने का निषेध है, केवल अधिकारी पुरुष को ही देना चाहिए। इस आसन के द्वारा शीघ्र ही वायु वशमें हो जाता है और दुःख एवं रोग आदि कष्टों का भी नाश होता है ॥११४-११५॥

स्वस्तिकासन वर्णन

जानूर्वोरन्तरे सम्यग् धृत्वा पादतले उभे ।
समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥११६
अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत् सुधीः ।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥११७
सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥११८

जानु और ऊरु के मध्य में समान रूप से पाँवों को नीचे-ऊपर रखे और समकाय अर्थात् शरीर को सीधा रखे और सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठे। यह स्वस्तिकासन कहलाता है। इस विधि से विद्वान साधक वायु का साधन शीघ्र ही कर लेने में समर्थ होता है। जिसे वायु की सिद्धि होजाती है, उसके शरीर में कोई रोगादि व्याधि नहीं होती। अर्थात् जो पुरुष इस आसन को सिद्ध कर लेता है, उसे किसी प्रकार का नष्ट नहीं होता। यह सरलता पूर्वक सिद्धि हो जाता है, इसलिए यह सुखासन भी कहलाता है। यह सभी दुःखों का नाश करने वाला स्वस्तिकासन अथवा सुखासन योगियों को गुप्त ही रखना चाहिए। यह आसन सर्व श्रेष्ठ और अत्यन्त कल्याणकारी है ॥११६-११८॥

॥ शिव संहिता का तृतीय पटल समाप्त ॥

चतुर्थ पटल

मुद्रा प्रकरण

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुञ्च्य प्रवर्तते ॥१

साधक का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम परक प्राणायाम के द्वारा वायु को खींचकर स्वाधार अर्थात् मूलाधार चक्र में स्थित करे और गुदा तथा मेढ़ के बीच में जो योनि स्थान है, उसे प्रयत्न पूर्वक संकुचित करने की चेष्टा करे। (यह मुद्रा का प्रारम्भिक रूप है, जो कि अभ्यास से सिद्ध हो सकता है। नीचे योनिमुद्रा के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला जाता है।) ।१।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥२
तस्योर्ध्वे तु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथा सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥३

ब्रह्मयोनि के बीच में कन्दुकपुष्प के समान उज्वल तथा करोड़ सूर्यों की प्रभा के समान ज्योतिमानऔर करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतल कामदेव का ध्यान करना चाहिए। उसी के ऊपर सूक्ष्म ज्योतिशिखा के समान चमकती हुई, चिद्रूप एवं परम कला के सहित एक ही आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। अर्थात् ब्रह्मयोनि के ऊपर आत्मा सूक्ष्म ज्योतिशिखा के रूप में विद्यमान रहता है। साधक को उसी का ध्यान करना चाहिए।३-४।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥४
अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम् ।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ।
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥५

जीव उसी ब्रह्मयोनि से सुषुम्ना मार्ग द्वारा क्रमपूर्वक लिंग त्रय से प्रस्थान करता है । (लिंग त्रय का तात्पर्य तीन प्रकार के शरीर से है, शरीरधारी के तीन लिंग होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, और (३) कारण लिंग, मरने पर यह तीनों ही नहीं रहते तथा करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाले करोड़ों चन्द्रमाओं जैसी शीतलता वाले, श्वेत और लाल वर्ण के परमानन्द स्वरूप एवं अमृत की धारा रूप में वर्षा करने वाले स्वर्गस्थ दिव्य कुलामृत का पान करके पुनः योनिमण्डल में जाकर स्थित होता है ।४-५।

पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।
सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मिंस्तन्त्रे मयोदिता ॥६
पुनः प्रलीयते यस्या कालाग्न्यादिशिवात्मकम् ।
योनिमुद्रा परा ह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥७
तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यं न साधयेत् ॥८

फिर प्राणायाम के योग से प्राणवायु ब्रह्मयोनि से चलता है, इसमें अन्यथा न समझो । मैंने उसी ब्रह्मयोनि को प्राण भी कहा है । फिर वह काल, अग्नि आदि से युक्त शिवात्मक (शिवस्वरूप जीव प्रस्थान करता हुआ चन्द्रमण्डल में पहुँचकर अमृत पान करता है और फिर ब्रह्मयोनि में ही स्थित हो जाता है । यही

बन्ध योनिमुद्रा कहलाता है, केवल इस बन्ध के करने मात्र से संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सिद्ध न हो सके। अर्थात् योनि मुद्रा सिद्ध कर ली तो सब कुछ सिद्ध कर लिया समझो ॥६-८॥

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताःस्तंभिताश्च ये ।
दग्धा मन्त्राः शिरोहीना मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥९
मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ।
भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्छिताश्च ये ॥१०

जो मन्त्र छिन्न स्वरूप, कीलित, स्तंभित, दग्ध, शिर-रहित मलिन या तिरस्कृत हैं अथवा जो बाल (अर्थात् कम प्रभाव वाले) (वृद्ध पूर्ण प्रभाव वाले), प्रौढ़ (मध्यम प्रभाव वाले), यौवन-गर्वित (अर्थात् उग्रस्वभाव के या उत्तेनात्मक), भेदयुक्त (भ्रम में डालने या भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले,सप्ताहों से मूर्च्छित अर्थात् क्रियाहीन पड़े हैं ॥९-१०॥

अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्यः सत्ववर्जिताः ।
तथा सत्वेन हीनाश्च खंडिताः शतधा कृताः ॥११
विधिनानेन संयुक्तः प्रभवन्त्यचिरेण तु ।
सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥१२

अथवा जो मन्त्र शत्रु के लिए हितकारी हैं, या जो निर्वीय और सत्वहीन हैं अथवा जो सत्वहीन होने के साथ ही खण्डित होकर सौ टुकड़ों में विभाजित हो गए हैं, वे सभी प्रकार के मन्त्र उक्त प्रकार से योनिमुद्रा सिद्ध कर लेने पर और गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करने पर सर्व सिद्धिप्रद तथा मोक्षदायक होजाते हैं ॥११-१२॥

यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम् ।
तत्सिद्धि समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१३
दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ।
ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥१४

अथवा योगी के मुख से जो मन्त्र शुभ वा अशुभ रूप से (शुद्ध या अशुद्ध शब्दों से) उच्चारण होता है, वह भी योनिमुद्रा के बन्धन से ही अनुकूल और सिद्ध होजाता है। गुरु का कर्त्तव्य है कि वह जिज्ञासु साधक को मन्त्र का अधिकार प्राप्त कराने के लिए विधिपूर्वक इस मुद्रा की दीक्षा देता हुआ उसे हजारों बार अभ्यास करावे। तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु जिस गुरु की शरण में जाकर शिक्षा लेना चाहे, उस गुरु का भी यह कर्त्तव्य है कि जिज्ञासु को योगविद्या में पारंगत करने के लिए बहुत प्रकार से शिक्षित करे, जिससे उससे कोई भेद छिपा हुआ न रहे जाय ॥१३-१४॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबंधनात् ॥१५
गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥१६

यदि साधक से हजार हत्याएँ भी होजाँय अथवा त्रिलोकी के सभी प्राणियों का भी संहार कर डाले, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से उसे पाप लिप्त नहीं कर सकते। गुरु का हत्यारा, मद्य-पान करने वाला, चोरी करने वाला, गुरुतल्प में रमण करने वाला अथवा ऐसे ही अनेक प्रकार के पापों का करने वाला साधक भी इस योनिमुद्रा के बन्धन को सिद्ध कर लेने पर उन पापों के फल से बँध नहीं सकता ॥१५-१६॥

तस्मादभ्यासनं नित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिरभ्यासात्मोक्षमाप्नुयात् ॥१७
संविदं लभतेऽभ्यासात् योगोऽभ्यासात्प्रवर्तते ।
मुद्रिणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायुसाधनम् ॥१८

इसलिए साधक का कर्तव्य है कि उक्त बन्धन के अभ्यास में नित्य परायण रहे। क्योंकि अभ्यास के सिद्ध होने पर ही सिद्धि होती है, और उसी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अभ्यास से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और उसी से योग की प्रवृति भी तथा अभ्यास से ही वायु साधन की सिद्धि भी है सकती है।१७-१८।

कालवञ्चनमभ्यासात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ।
वाक् सिद्धः काम चारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९
योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥२०

अभ्यास के द्वारा ही काल का उल्लंघन किया जा सकता है, उसी से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसी से वाणी की सिद्धि और इच्छित आचरण की शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए योगी को अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा सर्व सिद्धि संभव है। यह योनि मुद्रा अत्यन्त गोपनीय है, इसलिए अनधिकारी पुरुष को कभी नहीं बतानी चाहिए। यदि प्राण कण्ठ तक भी पहुँच जाँय तो भी इसे न दे अर्थात् प्रयत्न पूर्वक छिपाये रहे।१९-२०।

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥२१

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।२२

अब मैं जिस योग को कहता हूँ, वह परम सिद्धि का प्रदान करने वाला है। श्रेष्ठ सिद्धों का कर्तव्य है कि इस परम दुर्लभ विद्या को गोपनीय ही रखें। क्योंकि यह कठिनता से साध्य है। गुरु के प्रसन्न होने पर (उनके उपदेशानुसार) जब सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होती है, तब सभी पद्म (अर्थात् सभी चक्र) और सभी ग्रन्थियों का भेदन होजाता है। अर्थात् कुण्डलिनी के साथ प्राणवायु का संचार सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक सरल रूप से होने लगता है ।२१-२२।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।।२३

इसलिए सब प्रकार से प्रयत्न करके साधक के ब्रह्मरन्ध्र के मुख में (मार्ग को रोक कर) सोती हुई कुण्डलिनी देवी को जाग्रत् करने के लिए मुद्रा के अभ्यास में तत्पर होना चाहिए। (अर्थात् कुण्डलिनी जागरण के प्रयत्न में लग जाना ही उचित है, क्योंकि जाग्रत हुई कुण्डलिनी ही साधक के लिए मोक्ष के देने वाली होती है।) ।२३।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा ।।२४
उड्डानं चैव वज्रोली दशगं शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम् ।।२५

अब दश मुद्राएँ बताते हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी मुद्रा,

उड्डियानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और शक्तिचालिनी मुद्रा यह दश मुद्राएं प्रमुख एवं सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ हैं ॥२४-२५॥

महामुद्रा वर्णन

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे ।
यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः ।२६
अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम् ।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७
सव्यं प्रसासित पाद धृत्वा पाणियुगेन वै ।
नव द्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥२८
चित्तं चित्तपथे दत्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२९

मैं इस तन्त्र में जिन मुद्राओं का वर्णन कर रहा हूँ, इन्हीं मुद्राओं को उपलब्ध करके कपिल आदि प्राचीन ऋषि-मुनि सिद्ध होगए। यह मुद्रा इस प्रकार है कि बाँये पाँव की एडी से गुदा और मेढ़ के बीच में स्थित योनिस्थान को आदर सहित गुरु द्वारा उपदेशित विधि से दबानी चाहिए। फिर दाँये पाँव को पसार कर उसे दोनों हाथों से साथ ले और शरीर के नौ द्वारों को रोक कर ठोड़ी को हृदय पर अवस्थित करे और फिर चित्तवृत्ति को चैतन्य में स्थिर रूप से युक्त करके वायु का साधन करे। यह महामुद्रा सब प्रकार से गोपनीय है, (इसलिए साधक भी इसे गुप्त रखने का प्रयत्न करे) ॥२६-२९॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥३०

अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम् ॥३१
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।
कुण्डलीतापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥३२

इस मुद्रा का अभ्यास पहले बाँये अङ्ग से करे और फिर दाँये अङ्ग से। निश्चल मन वाले योगी को यह प्राणायाम समान रूप से करना चाहिए। इस प्रकार से मन्दभाग्य वाला योगी भी सिद्ध होजाता है। क्योंकि इसके प्रभाव से सभी नाड़ियों का चालन होता और बिन्दु स्थिर होजाता है। यह साधन जीवन को आकर्षित (स्थिर) रखने और सब प्रकार के पापों को नष्ट करने में समर्थ है। इसके द्वारा उसे कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के साथ प्रविष्ठ करने की शक्ति प्राप्त हो जायगी ॥३०-३२॥

सर्वरोगोपशनं जठराग्निविवर्धनम् ।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम् ॥३३
वांछितार्थफलंसौख्यमिंद्रियाणाञ्च मारणम् ।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ॥३४

इस उपाय से सभी रोगों का उपशमन होकर जठराग्नि प्रदीप्त होजाती हैं। शरीर सुन्दर स्वच्छ कान्ति से युक्त होजाता और जरा-मृत्यु का नाश होता है (अर्थात् साधक सुन्दर, कान्तिवान् और दीर्घजीवी होजाता है)। योगी को सब प्रकार से इच्छित फल की प्राप्ति होकर सुख मिलता है और इन्द्रियों पर संयम रखने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस प्रकार यह जो

कुछ भी कहा है वह सब योगाभ्यास परायण पुरुष को अवश्य ही सिद्ध हो जाता है, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं है ।३३-३४।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।
यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ।।३५
मुद्रा शामदुधा ह्येषा साधकानां मयोदिता ।
गुप्ताचारेण कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ।।३६

शिवजी ने पार्वती के प्रति कहा—हे देवताओं के द्वारा पूजी जाने वाली देवि ! इस मुद्रा को प्रयत्न-पूर्वक गोपनीय रखना चाहिए अर्थात् उसी व्यक्ति को बतावे जो इसमें रुचि रखता हो और करने में समर्थ दिखाई दे। योगिजन इसे उपलब्ध करके भवसागर से पार होजाते हैं। मेरे द्वारा कही हुई यह मुद्रा साधकों के लिए कामधेनु स्वरूप है अर्थात् इसके द्वारा उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं। इसको गुप्त रीति से साधन करना चाहिए और किसी अन्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए ।३५-३६।

महाबन्ध वर्णन

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि ।।३७
गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।।३८
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।।३९
नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं यान्ति योगिनः ।
उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ।।४०

फिर पाँव को फैला कर बाँए ऊरु पर दाँये पाँव को रखे और गुदा तथा योनि को संकुचित करके अपान को ऊपर की ओर चढ़ावे जिससे कि वह समान वायु के साथ मिल कर प्राणवायु को नीचे की ओर करे। जो बुद्धिमान साधक प्राण-अपान के मिलनार्थ इस बन्ध का करता है, उसके लिए यह सिद्धिदायक होता है। अथवा योगी के नाड़ीजल से रसग्रह शिर की ओर जाता है अर्थात् इस बन्ध के ऊपर की ओर गमन करता है, इस प्रकार मुद्रा एवं बन्ध दोनों को ही एक-एक अंग से ठीक प्रकार प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥३७-४०॥

भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः ।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे ॥४१॥
संपूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥४२॥

इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में अवस्थित होता है और यह बन्ध साधक के शरीर को पुष्ट करने वाला भी है। इसके द्वारा योगी की शरीरस्थ अस्थियों का ढाँचा तथा उनके सभी बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। उस योगी का हृदय सम्पूर्ण रूप से संतुष्ट होता है। इस बन्धन के प्रभाव से उस योगीन्द्र के सभी इच्छित पूर्ण होजाते हैं। इस अभ्यास के द्वारा उसे इन सभी लाभों की प्राप्ति होती है ॥४१-४२॥

महावेध वर्णन

अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना ।
स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ॥४३॥

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुंगवः ।
ग्रन्थि सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थि भिनत्त्यसौ ॥४४॥

शिवजी कहते हैं कि हे त्रिभुवनेश्वरि ! अपान और प्राण को संयुक्त करके महाबन्ध में स्थित योगी अपने उदर में वायु भर कर अपने दोनों पार्श्वों का ताड़न करे, यह वेध मेरे द्वारा कहा गया है। योगियों में श्रेष्ठ साधक ! इस वेध को करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग ब्रह्मग्रन्थि के भेदन का प्रयत्न करता है। अर्थात् यह अभ्यास कुशल योगियों के द्वारा ही सिद्ध होना संभव है और वे ही इसके द्वारा अपनी इच्छित उपलब्धि को प्राप्त कर सकते है ॥४३-४४॥

यः करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी ॥४५॥
चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥४५॥

अथवा जो पुरुष इस श्रेष्ठ महावेध को गोपनीय रखता हुआ सतत अभ्यास करता है, उसे जरा मृत्यु का नाश करने वाली वायु सिद्ध होजाती है। शरीर में जो चक्र विद्यमान हैं उनमें स्थित देवता वायु के द्वारा ताड़ित होकर काँपने लगते हैं और कुण्डलिनी स्वरूपिणी महामाया कैलास में लय को प्राप्त होती है अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मस्थान में लीन होजाती है। अभिप्राय यह है कि शरीरस्थ षट्चक्रों में गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अग्नि आदि देवता विद्यमान हैं, वे वायु के वेग से उन्हें छोड़ देते है और वहां प्राणवायु प्रविष्ट होजाता है ॥४५-४६॥

महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।
तस्माद्योगा प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥४७॥

एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥४८॥

वेध के बिना न तो महामुद्रा सफल होती है और न महाबन्ध ही सफल हो सकता है । इसलिए योगी का कर्त्तव्य है कि वह प्रयत्नपूर्वक तीनों ही साधनों के अभ्यास में तत्पर होजाय । जो योगी मुद्रा, बन्ध और वेध इन तीनों को दिन-रात नित्यप्रति चार वार करता है, वह छः मास पर्यन्त निरन्तर करने पर मृत्यु पर भी बिजय प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं है ॥४७-४८॥

एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ।
यज्ज्ञात्वासाधकाःसर्वे सिद्धिसम्यक्लभन्ति बै ॥४९॥
गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः ।
अन्यथा च न सिद्धिःस्यान्मुद्रामेष निश्चय ॥५०॥

सिद्ध पुरुष इन तीनों के माहात्म्य को ठीक प्रकार से जानते हैं, अन्य व्यक्ति नहीं जानते । इसको जानने वाले साधक सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं । सिद्धि की कामना करने वाले साधक का कर्त्तव्य है कि अपने अभ्यास को प्रयत्न पूर्वक गोपनीय रखे । यह निश्चय है कि इन मुद्रा आदि को साधारण लोगों पर प्रकट कर देने से सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥४९-५०॥

खेचरीमुद्रा वर्णन

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढा सुधीः ॥५१॥
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
लम्बिकोर्ध्व स्थिते गर्तें रसनां विपरीतगाम् ॥५२॥

संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षण: ।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधत: ॥५३॥

विद्वान् साधक भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे और अनेक प्रकार के उपद्रवों से रहित वज्रासन लगा कर बैठे। जिह्वा को गर्त में विपरीत रूप से लेजाय अर्थात् ऊपर की ओर से लौटा कर अमृत के कूप स्वरूप तालु के विवर में जाकर प्रयत्न पूर्वक संयोजित करे। यह मुद्रा खेचरी नाम से कही जाती है जिसे मैंने भक्तों के अनुरोध से (उनके हित के लिए) ही प्रकट किया है ॥५१-५३॥

सिद्धीनां जननीं ह्येषा मम प्राणधिकप्रिया ।
निन्तरकृताभ्यासात्पीयूष प्रत्यहं पिबेत् ।
तेन विग्रहसिद्धि: स्यान्मृयुमातङ्गकेसरो ॥५४॥

यह मुद्रा मेरे लिए प्राण से भी अधिक प्रिय है। क्योंकि यह सभी सिद्धियों को उत्पन्न करने वाली है। जो साधक निरन्तर इसका अभ्यास करता रहता है वह अवश्य ही अमृत का पान किया करता है। इसके द्वारा उन्हें विग्रह सिद्धि अर्थात् प्रतिमा रूप देवताओं की सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि उस साधक का शरीर पुष्ट होजाता है और उसके भीतर चक्रस्थ देवता भी सन्तुष्ट रहते हैं। यह खेचरी मुद्रा मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है ॥५४॥

अपवित्र पवित्रो वा सर्वास्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशय: ॥५५॥
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ।
दिव्यभोगान् प्रभूक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥५६॥

साधक चाहे पवित्र हो अथवा अपवित्र हो या किसी भी अवस्था में स्थित हो, जिसे यह खेचरी मुद्रा सिद्ध होजाती है उसके लिए सभी कुछ शुद्ध होजाता है। इसमें कुछ संशय नहीं मानना चाहिए। इस खेचरी मुद्रा का साधन जो योगी आधे क्षण भी कर लेता है, वह पाप रूपी महासमुद्र से पार होकर सुखपूर्वक दिव्य भोगों को भोगने में समर्थ होगा और (यदि उसे पुनर्जन्म भी ग्रहण करना पड़ा तो) उत्तम उच्च कुल में उत्पन्न होगा ॥५५-५६॥

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थचित्तो ह्यतन्दितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥५७॥
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥५८॥
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥५९॥

जो योगी इस खेचरी मुद्रा को करता हुआ स्वस्थ चित्त और ब्रह्म परायण रहेगा, उसे सौ ब्रह्माओं के जीवन व्यतीत होने वाला (दीर्घकाल भी) आधेक्षण के समान ही प्रतीत होगा। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी मुद्रा प्राप्त होजाती है, वह यदि अनेक पापों में भी संलग्न रहा तो भी परम गति को प्राप्त होजाता है अर्थात् खेचरी मुद्रा के साधन से सभी पाप नष्ट होजाते हैं, और वह मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। शिवजी कहते हैं कि हे देवपूजिते! वह मुद्रा प्राण के समान है, इसलिए उसे चाहे जिस व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए। वरन् प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥५७-५९॥

जालन्धरबंध वर्णन

बद्ध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालंधरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥६०॥
नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ।
पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥६१॥

गलशिराजाल को बाँध कर ठोडी को हृदय से लगाले, यह जालन्धरबन्ध कहलाता है। यह बन्ध देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। सहस्रदल कमल अर्थात् सहस्रार से स्रवित होते हुए अमृत को नाभि में स्थित अग्नि पान कर लेता है परन्तु उसे वैसा न करने देने के लिए इस जालन्धरबन्ध को अवश्य करना चाहिए। (क्योंकि चन्द्रामृत का जठराग्नि द्वारा ग्रास कर लिये जाने से अन्त में मनुष्य की मृत्यु होजाती है, परन्तु जालन्धरबन्ध एक ऐसा साधन है, जो कि जठराग्नि को चन्द्रामृत पान करने से रोकता रहता है ॥६०-६१॥

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ।
अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥६२॥
जालंधरो बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥६३॥

इस जालन्धर बन्ध के करने से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पान की शक्ति प्राप्त कर लेता है और उससे उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है और वह उससे त्रिलोकी में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों के लिए सिद्धिदायक है, इसलिए जो साधक नित्य प्रति इसका अभ्यास करता है, वह सिद्धि को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के द्वारा

साधारण साधक ही नहीं, वरन् सुसिद्ध साधक भी लाभान्वित होते हैं ॥६२-६३॥

मूलबन्ध वर्णन

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ॥६४॥
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ।
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥६५॥
अपान प्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ।
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥६६॥

पाँव की एड़ी से गुदामार्ग को दबावे और बलपूर्वक अपान वायु को ऊपर की ओर आकर्षित करे। (इस प्रकार अपान को ऊपर ले जाकर प्राण से मिलावे) इस जरा-मरण नाशक बन्ध को मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रकार कल्पित हुए इस बन्ध के द्वारा अपान और प्राण को संयुक्त करने से योनिमुद्रा स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ॥६४-६६॥

सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥६७॥
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुङ्गव ॥६८॥

सिद्ध पुरुषों को इस योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने से ऐस कौन-सा पदार्थ है जो उपलब्ध नहीं हो सकती ? इस बन्ध के प्रभाव से वायु को सहज में ही जीता जा सकता है और ऐसा होने पर साधक पद्मासन लगा कर बैठे तो (खचेरी मुद्रा के साधन द्वारा) पृथ्वी को छोड़कर ऊपर उठने लगेगा (और

आकाश में विचरण करने लगेगा। यदि कोई श्रेष्ठ योगी इस संसार सागर से पार जाना चाहे तो उसे निर्जन प्रदेश में गुप्त रूप से इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए ॥६७-६८॥

विपरीतकरणी मुद्रा

भूतले स्वशिरो दत्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृतिश्चैषासर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥६९॥
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं यामममात्रतः ।
मृत्युं जयति योगीशः प्रलयेनापि सीदति ॥७०॥
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ।
स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥७१॥

योगी अपने शिर को पृथिवी में टेककर, दोनों पाँवों को आकाश की ओर उठा कर सीधे करे, इसी को विपरीतकरिणी मुद्रा कहते हैं। यह सब प्रकार से गुप्त रखने के योग्य है। (इस मुद्रा में शिर नीचे और पाँव ऊपर अधर में रखे जाते हैं) इस प्रकार इस मुद्रा का अभ्यास जो नित्यप्रति एक प्रहर (अर्थात् तीन घंटे) तक निरन्तर करे तो वह अवश्य ही मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है और प्रलय में भी उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। इस प्रकार जो साधक शरीर में विद्यमान अमृत का पान करता है, उसे सिद्धों की समानता प्राप्त हो जाती है (अर्थात् वह सिद्ध हो जाता है) और इस बन्ध के करने वाला वह योगी सभी लोकों में पूजित होता है ॥६९-७१॥

उड्डयानबन्ध वर्णन

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ।
उड्डयानबन्ध एष स्यात्सर्वदुःखौघनाशनः ॥७२॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वे तु कारयेत् ।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽय मृत्युमातङ्गकेसरी ॥७३॥

नाभि से ऊपर और नीचे पश्चिम तान का आचरण करे अर्थात् इस प्रकार तान अर्थात् आकर्षण करे जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में जाकर लग जाँय । यह उड्डयान बन्ध कहलाता है । पेट को पीछे की ओर आकर्षित करता हुआ नाभि के ऊपर के भाग में आकुंचित करे, यही उड्डयान बन्ध है,जोकि मृत्युरूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान है । तात्पर्य यह है कि इस बन्ध के अभ्यास से साधक मृत्यु रूपी दुःख का उल्लंघन कर जाता है अथवा यह समझिये कि जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥७२-७३॥

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेस्सु शुद्धिः साद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥७४॥
षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥७५॥

जो योगी इस बन्ध का नित्यप्रति चार बार अभ्यास करता है, उसके नाभिमण्डल का शोधन हो जाता है और वायु भी सिद्धि हो जाता है । यदि योगी छः महीने तक इस बन्ध के अभ्यास में तत्पर रहता है तो वह अवश्य ही मृत्यु को जीतने में समर्थ होता है और उसके उदर की अग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है तथा रस की वृद्धि होने लगती है । आशय यह है कि यह बन्ध जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला और रस की वृद्धि करके शरीर की धातुओं को भी पुष्ट करने वाला है। इसी से इसके साधन से मृत्यु का जीतना कहा गया है ॥७४-७५॥

अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥७६॥
गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षण: ।
निर्जने सुस्थिते देमे बन्धं परमदुर्लभम् ॥७७॥

इस बन्ध के प्रभाव से योगी का शरीर स्वयं ही सिद्धि को प्राप्त होजाता है और यह निश्चय ही उसके सभी रोगों का नाश करता है। यह बन्ध अत्यन्त ही दुर्लभ है, इसकी उपलब्धि गुरु की कृपा से ही सम्भव है । इसकी प्राप्ति के लिए विद्वान् साधक स्वस्थ चित्त से एकान्त स्थान में अभ्यास करे । आशय यह है कि चित्त को एकाग्र करने के लिए एकान्त स्थान उपयुक्त रहता है, जनाकीर्ण स्थान में चित्त स्थिर नहीं रह सकता ॥७६-७७॥

वज्रोलीमुद्रा वर्णन

वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ।
स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥७८॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना ।
मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्यभ्यासयोगत: ॥७९॥
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिद: ।
तस्मादतिप्रत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥८०॥

शिवजी कहते हैं कि अब मैं अपने भक्तों के लाभार्थ संसार के अन्धकार को दूर करने वाली गुह्य से भी गुह्यवज्रोली मुद्रा का वर्णन करता हूँ । इसके साधन से गृहस्थ स्वेच्छापूर्वक घर में रहता हुआ वहाँ के सभी भोगों की प्राप्त करता है और योगी साधक योगोक्त नियमों के बिना भी वज्रोली मुद्रा के ही अभ्यास से मोक्ष को प्राप्त होजाता है । इस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास

भोगी पुरुषों के लिए भी मोक्ष का देने वाला है और योगियों के लिए तो इसका सदैव करना कर्त्तव्य है ही ।।७८-८०।।

आदौ रजःस्त्रियो योन्याःयत्नेन विधिवत्सुधीः ।
आकुंचय लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ।।८१।।
स्वकं बिंदुश्च सम्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ।।८२।।

पहले विद्वान् साधक विधि-विधान से प्रयत्न पूर्वक योनि से रज को उपस्थ-नाल में आकर्षित करे और अपने देह में प्रविष्ट कर ले तथा बिन्दु का निरोध करके लिंगचालन का आचरण करे। इस क्रिया में यदि दैववशात् बिन्दु अपने स्थान से च्युत होजाय तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध कर ले ।।८१-८२।।

वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिंगं निवारयेत् ।
क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालनमाचरेत् ।।८३।।
गुरूपदेशतो योगी हुंहुंकारेण योनितः ।
अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ।।८४।।

उक्त प्रकार से बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर आकर्षित करे और बाँये भाग में स्थित करके क्षणभर के लिए लिंग-चालन क्रिया को रोक दे और फिर गुरु के उपदेशानुसार वह योगी हुँहुँकार शब्द का उच्चारण करता हुआ पुनः चालन-क्रिया में प्रवृत्त होजाय और बलपूर्वक अपान वायु का आकुंचन करता हुआ रज का आकर्षण करे। यही वज्रोली मुद्रा कही जाती है ।।८३-८४।।

अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ।
भव्यभुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्जपूजकः ।।८५।।

विंदुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ।
उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥८६॥

इस विधि से योगी के लिए योग की सिद्धि शीघ्र ही सुलभ होगी और वह गुरु के चरणकमलों को पूजने वाला योगी अपने शरीर में विद्यमान अमृत का पान करने में समर्थ होगा। बिन्दु को चन्द्रमा स्वरूप और रज को सूर्य स्वरूप जान कर दोनों को संयुक्त करे और अपने शरीर में प्रविष्ट कर ले ॥८५-८६॥

अहं बिंदू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥८७॥
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥८८॥

यदि साधक मेरे स्वरूप (अर्थात् शिव स्वरूप) में विन्दु और शक्ति स्वरूप में रज को समझता हुआ इन दोनों को संयुक्त करता है, तो इस प्रकार साधन से वह योगी दिव्य शरीर वाला होजाता है। आशय यह है कि शक्ति को शिव में अथवा माया को ईश्वर में लय करने से मोक्ष होना मानते हैं और यह शिव-शक्ति संयोग बिन्दु और रज का मेलन ही है। जो साधक इसे सिद्ध कर लेता है, वह सांसारिक बन्धन से मुक्त होजाता है। परन्तु बिन्दुपात होने से साधक का मरण और बिन्दुधारण से जीवन रहता है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक बिन्दु का धारण ही उचित है। आशय यह है कि विन्दु-रज के मेलन काल में बिन्दु का पात नहीं होना चाहिए, अन्यथा साधना निष्फल होजाती है, और फिर बिन्दु ही तो शरीर का जीवन है उसके बिना सामर्थ्य नहीं रहती और सामर्थ्य का न रहना तो मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष

मृत्यु के ही समान है,इसस कभो भी,किसी भो दशा में बिन्दु-क्षय का रोकना प्रमुख कर्त्तव्य है ॥८७-८८॥

जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥८९॥
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्धति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥९०॥

शरीरधारी का जन्म-मरण बिन्दु से ही होता है, इसमें कोई संशय नही है । अर्थात् बिन्दु (शुक्र) ही शरीर के उत्पन्न होने में कारण है और बिन्दु का अभाव उसके मरण में कारण होता है । इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके योगी को बिन्दु की रक्षा के आचरण में सदा तत्पर रहना चाहिए । महान् यत्न करने पर भो उपलब्ध बिन्दु की सिद्धि पृथिवी में क्या सिद्ध नहीं करा सकती? अर्थात् बिन्दु-रक्षा में सभी सिद्धियाँ निहित हैं और बिन्दु-रक्षा के प्रसाद से ही मेरी भी यह महिमा बनी हुई है । अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मेरे ही समान महिमावान होजाता है ॥८९-९०॥

बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखं च संस्थितः ।
संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥९१॥
अयं च शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥९२॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगभुक्तोऽपि मानवः ।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ३॥

सांसारिक सुख-दुःख में संस्थित होने का कारण बिन्दु ही होता है। इस प्रकार मूर्खों और जरा-मरण में पड़े हुए संसारी जीवों के लिए यह एक श्रेष्ट साधन है । जो मनुष्य भोगयुक्त हों

उनके लिए भी इसके अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होकर संसार में सभी इच्छित पदार्थों की सिद्धि होजाती है। अर्थात् बिन्दु की रक्षा करने वाला पुरुष भोगी गृहस्थ हो तो भी उसकी कामना पूर्ति होती रहती है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं रहता, जो इच्छा करने पर भी उसे प्राप्त न होजाय ।।९१-९३।।

भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ।।९४।।

इस योग के अभ्यास में सिद्ध हुआ साधक अपने अशेष भोगों को भोगता हुआ अवश्य ही सुखी रहता हैं तथा योगिजनों को इस मुद्रा के साधन द्वारा निश्चय ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। क्योंकि यह साधना महान् सुख को भोगते-भोगते ही सिद्ध होजाती है, इसलिए इसका अभ्यास करना चाहिए। आशय यह है कि वज्रोली मुद्रा के साधन में कोई कष्ट नहीं होता और अशेष भोगों का भोग यदि अशुभ भी हो तो भी वह सुखपूर्वक पूरा होजाता है ।।९४।।

सहजोलल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ।
येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रचारयेत् ।।९५।।

अमरोलीमुद्रा वर्णन

दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ।।९६।।

वज्रोली मुद्रा के भेद से ही सहजोली और अमरोली मुद्राओं का भी नाम रखा गया। इन सब में सार बात यही है कि योगी जिस प्रकार भी हो सके, बिन्दु का धारण करे। अर्थात् शुक्र-

रक्षा में असावधान न रहे। यदि दैवयोग से उत्तेजनावश बिन्दु अपने स्थान से चलायमान होजाय और साधक रज-बिन्दु के मेलन में भी सफल होजाय तो यह मुद्रा अमरोली कहलाती है। इसमें लिगनाल (वीर्यवाहिनी नाड़ी) द्वारा रज-बिन्दु का शोषण किया जाती है ॥९५-९६॥

सहजोलीमुद्रा वर्णन

गतं विन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ।
सहजोलीरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥९७॥
संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥९८॥

यदि अपना बिन्दु चलित होजाय तो योगी को योनि-मुद्रा के बन्ध द्वारा अवरोध करना चाहिए। यह सब प्रकार से गोपनीय मुद्रा सहजोली कहलाती है। यद्यपि दोनों का कार्य एक जैसा है, तथापि संज्ञाभेद से इसके अमरोली और सहजोली दो भेद होगए हैं। इसलिए योगी को इन दोनों मुद्राओं का साधन सदा पूरे प्रयत्न के साथ करना चाहिए ॥९७-९८॥

अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ।
गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥९९॥
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ।
तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥१००॥

शिवजी ने पार्वतीजी के प्रति कहा—हे प्रिये ! मैंने यह साधन भक्तों पर स्नेह करने के लिए ही कहा है। परन्तु यह इतना गोपनीय है कि हर किसी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। इस वज्रोली मुद्रा से अधिक गोपनीय कोई अन्य साधन न तो

पहले कभी था और न भविष्य में होगा। इसलिए बुद्धिमान साधक इसे प्रयत्न पूर्वक गुप्त ही रखे ॥९९-१००॥

स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना।
स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥१०१॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत्।
बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥१०२॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपना मूत्र त्याग करने के समय साधक सदा बलपूर्वक वायु से आकर्षण करता हुआ धीरे-धीरे मूत्र को त्यागे और फिर ऊपर की ओर आकर्षित करे तो इस अभ्यास द्वारा बिन्दु सिद्ध होजाता है। यही बिन्दु-सिद्धि साधक को महान् सिद्धि प्रदान करने वाली है। आशय यह कि बिन्दु की सिद्धि के लिए साधक को उपर्युक्त प्रकार से थोड़े-थोड़े मूत्र-त्याग का अभ्यास करना चाहिए ॥१०१-१०२॥

षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया।
शताङ्गनानां भोगेऽपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥१०३॥
सिद्धे बिंदौ महायत्ने किं न सिध्यतिपार्वति।
ईशुत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥१०४॥

गुरु की शिक्षा के अनुसार योगी यदि उक्त क्रिया का अभ्यास छः महीने भी कर ले तो सौ स्त्रियों से संसर्ग करने पर भी उस का बिन्दु-क्षय नहीं होगा। हे पार्वति! इस प्रकार महान् प्रयत्न करके भी यदि बिन्दु सिद्ध होजाय तो उस साधक के लिए क्या सिद्ध नहीं होजाता? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध होजाता है। इस बिन्दु-सिद्धि के प्रसाद से मुझे इस दुर्लभ ईशत्व की प्राप्ति हुई है ॥१०३-१०४॥

शक्तिचालन मुद्रावर्णन

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढाम् ।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥१०५
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥१०६

आधार कमल अर्थात् मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है, उसे बुद्धिमान साधक अपानवायु पर आरूढ़ होकर और बलपूर्वक उसे आकर्षित करता हुआ चालन करे। यह शक्तिचालन मुद्रा है, जो सभी शक्तियों के देने वाली होती है। स शक्तिचालन मुद्रा के नित्यप्रति अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होकर आयु की वृद्धि होती है ॥१०५-१०६॥

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु ।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥१०७
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येन विग्रहसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा ॥१०८

इस शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से भुजंगी अर्थात् सर्पिणी जैसी आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर स्वय ही (सुषुम्न मार्ग से) ऊपर चढ़ने लगेगी। इसलिए सिद्धि की कामना करने वाले यागी को इसका अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि जो साधक इस शक्तिचालन मुद्रा का निरन्तर अभ्यास करता है, उसका शरीर निश्चय ही सिद्ध अर्थात् अमर होजाता है और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होजाती है ॥१०७-१०८॥

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिनाशनम् ॥१०९
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः।
युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम् ॥११०
एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासने सिद्धिःसिद्धौ भवति नान्यथा ॥१११

गुरु के उपदेश की विधि से इसका साधन करने वाले पुरुष के लिए मृत्युभय कहाँ ? यदि दो मुहूर्त्त भर ही इसका साधन कर ले तो शक्ति का नाश रुक जाता है और प्रयत्न पूर्वक इसके अभ्यास में लगा रहता है, उसे तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो ही जाती हैं। इसलिए किसी भी युक्त आसन से बैठ कर इस शक्ति चालन मुद्रा का अभ्यास करना योगी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार मेरे द्वारा कही हुई यह दश मुद्राएं अभूत-पूर्व हैं। इनके समान न तो कोई साधन हुआ, न होगा ही। इसमें से एक-एक का अभ्यास करता हुआ साधक अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करता हुआ सिद्ध होजाता है ॥१०९-१११॥

शिव संहिता का चतुर्थ पटल समाप्त

पंचम पटल

योग प्रकरण

ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति ।
ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ।।१

भगवती पार्वतीजी बोलीं—हे ईशान ! हे परमप्रिय शिव ! योगाभ्यास के अवसर पर जो-जो विघ्न उपस्थित होते हैं, उन्हें मेरे प्रति कहिये । तात्पर्य यह है कि योग का अभ्यास करने वाले साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है । इसलिए अपने भक्तों पर उपकार करने के उद्देश्य से ही पार्वतीजी ने उन विघ्नों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की ।।१

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नः स्थिरताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमबन्धनः ।।२

शिवजी ने कहा—हे देवि ! योग साधन के समय जो विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, उन्हें कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो । देखो, मनुष्यों के मोक्ष के लिए भोग परम बन्धन स्वरूप है ।।२

नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्य विडम्बनम् ।
ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्यविभूतयः ।।३
हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्नं चागुरुधेनवः ।
पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतं विभूषणम् ।।४
वंशी वीणा मृदङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम् ।
भोगरूपा इमे विघ्ना धर्मरूपानिमान् शृणु ।।५

स्त्री-संसर्ग, शय्या, श्रेष्ठ आसन, वसन और धन यह सब मोक्ष के लिए विडम्बना स्वरूप ही हैं। ताम्बूल का भक्षण और सवारी आदि राज्य विषयक ऐश्वर्य, भोग आदि के साधन, स्वर्ण, रौप्य, ताम्र एवं अगरु आदि सुगंधित द्रव्य तथा धेनु आदि का संग्रह करना, यह सब विघ्न रूप ही हैं। पाण्डित्य प्रदर्शन करना, वेदशास्त्रों का व्याख्यान करना, नृत्य, गीत शृंगार, वंशी, वीणा, मृदंग आदि वाद्यों में तल्लीन रहना, हाथी-घोड़े आदि वाहनों का प्रयोग करना आदि सब भोगरूपी विघ्न हैं। अब धर्मरूपी विघ्नों को कहता हूँ, उन्हें सुनो ॥३-५॥

स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्षमयी स्थितिः ।
व्रतोपवासनियमा मौनमिन्द्रियनिग्रहः ॥६
ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ।
वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७
यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानिच ।
दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिता ॥८

स्नान करना, पूजन या होम करना, मोक्षमयी (अर्थात् द्वन्द्व-रहित) स्थिति में रहना, व्रत या उपवास करना, नियम-पालन करना, मौन रहना और इन्द्रिय निग्रह करना, ध्येय वस्तु का ध्यान करना, मन्त्रोच्चारण में लगे रहना, दान देना, सब दिशाओं में ख्याति प्राप्त होना, बावड़ी, कूप, सरोवर, प्रासाद (भवन), उद्यानादि की कल्पना करना (अर्थात् बनवाना), यज्ञों और कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों को करना, विविध तीर्थों में तीर्थाटन करना आदि यह सब धर्मरूपी विघ्न दिखाई देते हैं ॥६-८॥

यत्तु विघ्नं भवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने ।
गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत् ।।९
नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम् ।
कुक्षिसञ्चालनं क्षिप्रं प्रवेश इंद्रियाध्वना ।
नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतां मम ।।१०

शिवजी कहते हैं कि श्रेष्ठ मुख वाली पार्वति अब मैं ज्ञान-रूपी विघ्न को कहता हूँ—आसन से बैठ कर अन्तशुद्धि के उद्देश्य से गोमुख के समान वस्त्र रखते हुए धौति का प्रक्षालन करना अर्थात् धौति-योग करना, नाड़ी-संचार का ज्ञान प्राप्त करना, वायु के प्रत्याहार का निरोध करना, कुण्डलिनी के जागरणार्थ कुक्षि संचालन करना, इन्द्रिय द्वारा शीघ्र प्रवेश करना और नाड़ी-शुद्धि के लिए आहार के आचार-विचार का पालन करना, यह सभी ज्ञान रूपी विघ्न हैं। हे कल्याणि ! अब मैं नाड़ी-शोधनार्थ भोजन विधि कहता हूँ, उसे सुनो ।।९-१०।।

नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ताडयेत् पुनः ।
एककालं समाधिः स्याल्लिंगभूतमिदं शृणु ।।११
संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भज दुर्जनात् ।
प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ।।१२
पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति ।
इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिताः ।।१३

नवीन रसयुक्त भोज्य वस्तु तथा सोंठ चूर्ण युक्त भोजन करे अर्थात् भोजन के उपरान्त शुण्ठिचूर्ण का सेवन किया

जाय। ऐसा करने से समाधि शीघ्र होती है। मैं उसका लक्षण कहता हूँ, उसे भी सुनो साधु का संग और दुर्जन से दूर रहने का निश्चय रखना तथा निर्गम में प्रवेश और कुम्भक के समय गुरु और लघु का अवलोकन करना। शरीर में स्थित रूप (आत्मरूप) का विचार रखते हुए निश्चय करना कि रूपवान और रूप-रहित क्या है ? तथा इस दृश्य-प्रपंच के ब्रह्मरूप होने विषयक विचार को हृदय में स्थिर रखना। यह जो बताये गये हैं, वे सब ज्ञान रूप विघ्न समझने चाहिए ॥११-१३॥

चतुर्विधयोग वर्णन

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः ॥१४

चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः ।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघनक्षमः ॥१५

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग के भेद से योग के चार प्रकार हैं। इनमें लययोग तीसरा और राजयोग चौथा तथा द्वैत भाव से रहित है। तात्पर्य यह है कि राजयोग के साधक में द्वैतभाव का अभाव रहता है जिससे कि वह परमात्मा से ऐक्य स्थापिन कर लेता है। यह चार प्रकार के योग चार प्रकार के साधकों द्वारा ही सिद्ध होते हैं। अर्थात् इनके साधक भी मृदु, मध्यम, अधिमात्र और अधिमात्रतम के भेद से चार प्रकार के होते हैं। इन साधकों में अधिमात्रतम साधक सब से अधिक श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह भवसागर से शीघ्र पार जाने में सक्षम होता है ॥१४-१५॥

मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ॥१६

चपलःकातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ।
मंदाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ॥१७
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥१८

मृदु साधक का लक्षण यह हैं कि मन्द उत्साह वाला, मूढ़-चेता, व्याधि से ग्रस्त, गुरु की निन्दा करने वाला, लोभी, पाप बुद्धि से युक्त, बहुत भोजन करने वाला, स्त्री के वश में रहने वाला, चपल चित्त, कातर, रोगी, पराधीन, अत्यन्त निष्ठुर, मन्द आचरण वाला और मन्द वीर्य वाला पुरुष मृदु मानव कहलाता है। ऐसा साधक मन्त्रयोग का अधिकारी होता है। गुरु की प्रसन्नता प्राप्त करके प्रयत्न पूर्वक साधना करने वाले पुरुष को द्वादश वर्ष में सिद्धि की प्राप्ति होती है ॥१६-१८

समबुद्धि क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियंवदः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ॥१९

मध्यम साधक का लक्षण यह है कि जो साधक समबुद्धि वाला, क्षमायुक्त, पुण्य फल प्राप्ति की इच्छा से शुभ कर्म करने वाला, प्रिय बोलने वाला, सभी कार्यों या सभी विषयों में मध्यस्थ रहने वाला और सामान्य अर्थात् सब स्थितियों में समान भाव रखने वाला उसे मध्यम साधक कहते हैं। इसे जान कर अभ्यास परायण रहते हुए साधक को लय योग का उपदेश करना चाहिए। क्योंकि लययोग मुक्ति का मार्ग है ॥१९

स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ॥२०

शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्ज पूजकः ।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ।।२१

एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ।
एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च सांगतः ।।२२

अब अधिमात्र संज्ञक साधक का लक्ष्यकहा जाता है—स्थिर बुद्धि वाला, लययोग में तत्पर, स्वाधीन, वीर्यवान अर्थात् शक्ति शाली, महाशय अर्थात् विस्तृत दृष्टिकोण वाला, दयामय, क्षमावात् सत्यवान् अर्थात् असत्य से बचने वाला हो तथा जो शूर और समाधि में श्रद्धा रखने वाला हो। जो गुरु के चरण-कमलों की पूजा करने वाला तथा योगाभ्यास में परायण हो। ऐसा साधक अधिमात्र कहलाता है। इसके छः वर्ष पर्यन्त निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धि प्राप्त हो सकता है। गुरु ऐसे धीर साधक को अंगयुक्त हठयोग का उपदेश करे ।।२०-२२।।

महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ।।२३

नवयौवनसम्पन्नौ मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ।।२४

अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियंवदः ।।२५

अधिमात्रतम साधक के लक्षण यह हैं कि वह महान् वीर्य (बल) से समन्वित, उत्साहयुक्त, शूरता से सम्पन्न शास्त्र का ज्ञाता, अभ्यास शील, मोह-रहित आकुलता से रहित, नवीन यौवन से युक्त, अल्प आहार करने वाला, जितेन्द्रिय, भय-रहित शुद्ध अर्थात् पवित्र आचरण वाला, दक्ष अर्थात् सभी कार्यों में

चचुर, दाता अर्थात् उदारता से दान देने वाला, सब लोगों को आश्रय स्वरूप, अधिकारी, स्थिर चित्त वाला, बुद्धिमान, सदा सन्तोष रखने वाला, क्षमाशील, सुशील (श्रेष्ठ आचरण वाला) धर्म का आचरण करने वाला, अपने कार्यों को गुप्त रखने वाला और सबसे प्रिय बोलने वाला होता है ॥२३-२५॥

शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ।
जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ॥२६
अधिमात्रतरो ज्ञेयः सर्वयोगस्य साधकः ।
त्रिभिस्संवत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचारणा ॥२७

अधिमात्रतम संज्ञक साधक शास्त्रों में विश्वास रखने वाला होता है। देवताओं और गुरु के पूजन से परायण रहने वाला, परन्तु लोगों के संग अथवा संग से दूर रहने वाला होता है। उसे कोई महाव्याधि (महामारी आदि) नहीं व्यापती। ऐसा जो साधक सब प्रकार के योगाभ्यास में तत्पर रहता है, वह अधिमात्रतम कहलाता है। इसे तीन वर्ष के निरन्तर अभ्यास से अवश्य ही सिद्धि प्राप्ति होती है और वह सभी प्रकार के योग का अधिकारी होता है. इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। अर्थात् यहाँ जो लक्षण अधिमात्रतम साधक के कहे हैं, उनसे सम्पन्न साधक सभी प्रकार के योगाभ्यास में समर्थ होता है ॥२६-२७॥

प्रतीकोपासना वर्णन

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफलप्रदा ।
पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥२८

गाढ़ातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वर
निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ।
यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं
नभोऽङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥२९

अब प्रतीकोपासना के विषय में बताया जाता है—प्रतीक उपासना दृष्ट-अदृष्ट फल के देने वाली है तथा उसके दर्शन मात्र से ही उपासक पवित्र होजाता है, इसमें विचारने की कोई बात नहीं है। अर्थात् जो कुछ यहाँ कहा गया है, उसमें सब सत्य ही है। गाढ़ आतप अर्थात् कठिन धूप में नेत्रों को स्थिर करके जो साधक अपने ईश्वर के प्रतिबिम्ब को देखे और जब शून्य में अपना प्रतीक प्रतिबिम्ब)दिखाई देने लगे तव वह उस प्रतिबिम्ब को आकाश में देखने में अवश्य ही समर्थ होता है॥२८-२९॥

प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
आयुवृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥३०
यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीकं नभोऽङ्गणे ।
तदा जयं सभायां च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ॥३१
यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विन्दते परम् ।
पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥३२

जो साधक अपने प्रतीक रूप प्रतिबिम्ब को आकाश में देखता है, उसके प्रभाव से उसकी आयु-वृद्धि होती है और मृत्यु कभी नहीं होती। यदि उसे आकाश में अपना सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे तो सभा में उसकी विजय होती है और वह युद्ध में भी शत्रु को जीतने में समर्थ होता है। यदि वह साधक अपने प्रतीक की उपासना का अभ्यास करता है तो उसे आत्मा

की प्राप्ति होती है और इसी प्रतीकोपासना के प्रभाव से पूर्णानन्द स्वरूप (आत्मा) का दर्शन होता है। अभिप्राय यह है कि प्रतीकोपासना से हृदयाकाश में आत्म-दर्शन होता है और साधक परम आनन्द का अनुभव करने लगता है ॥३०-३२॥

यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्मणि सङ्कटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनं चरेत् ॥३३
निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥३४

यात्रा के समय, विवाह के समय, शुभ-कर्म के समय अथवा सकट काल में, पाप का क्षय होने या पुण्य की वृद्धि होने के समय यदि प्रतीकोपासना का आचरण करे तो अवश्य ही श्रेय की प्राप्ति होती है। यदि प्रतीकोपासना का निरन्तर अभ्यास किया जाय तो अवश्य ही अपने हृदयाकाश में अपना प्रतिविम्ब भासित होने लगता है। उस अवस्था में वह निश्चयात्मा योगी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥३३-३४॥

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥३५
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतिरूपं स पश्यति ॥३६

दोनों हाथ के अँगूठों से दोनों कानों को बन्द कर दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को तथा दोनों मध्यामाओं से दोनों नासापुटों को बन्द कर ले। फिर दोनों अनामिकाओं को मुख पर रख कर मुख को दृढ़ता से बन्द करना चाहिए। जो योगी इस प्रकार वायु को रोककर इसका बार-बार अभ्यास करता है उसे

हृदयाकाश में ज्योति-स्वरूप आत्मा दिखाई देता है। अर्थात् वह योगी आत्मदर्शन करने में सुखी होता है ॥३५-३६॥

तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ।
सर्वपापविमुक्तः स याति परमां गतिम् ॥३७
निरन्तरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥३८

जो पुरुष क्षणमात्र भी स्थिर चित्त रहता हुआ इस तेज का दर्शन करता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्ति होता है। जो योगी पुरुष चित्त को शुद्ध रखता हुआ इस साधन के अभ्यास में लगा रहता है, वह सभी शरीरादि के कर्मों से पृथक् होता हुआ आत्मा से अभिन्नता को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्म-दर्शन होने पर 'मैं ही आत्मा हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह स्वयं को आत्मा से भिन्न नही मानता यही उसका आत्मा से अभिन्नता को प्राप्त होता है॥३७-३८॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥३९
गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ।
निर्वाणदायको लोके योयोऽयं मम वल्लभः ।
नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च यः ॥४०

जो साधक अपने अभ्यास को गुप्त रखता हुआ साधन में तत्पर रहता है, वह यदि पाप-कर्मों में रत रहा हो तो भी (उन पापों से मुक्त होकर) मोक्ष को प्राप्त होजाता है। यह प्रतीकोपासना साधक को निर्वाण योग के देने वाली है, इसलिए मेरे लिए बहुत ही प्रिय है। इसका अभ्यास करने वाले साधक

को क्रमपूर्वक नाद की अनुभूति होने लगती है। परन्तु इसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखनी चाहिए ॥३१-४०॥

मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ।
घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥४१
ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ।
तदा सजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥४२

इस प्रकार से योग का अभ्यास करते रहने पर पहले मत्त भौंरे के समान शब्द सुनाई देता है और फिर वंशी और वीणा जैसे शब्द का भान होता है। फिर संसार का अन्धकार दूर करने वाला घण्टानाद जैसी ध्वनि सुनने में आती है। तत्पश्चात् मेघों के गर्जन जैसा शब्द सुनाई देता है। इन प्रकार इन ध्वनियों में क्रमशः मन के स्थिर होते-होते (अन्त में मेघ-गर्जन की ध्वनि में चित्त के रम जाने से) लेय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए यह साधन मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥४१-४२॥

तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥४३

एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून् ।
सर्वारम्भपरित्यागो चिदाकाशे विलीयते ॥४४

योगी का चित्त जब नाद में स्थिर रूप से रमण करने लगता है यर्थात् चित्त को अन्यत्र चलायमान नहीं करता। वह सभी विषयों को भूलने के कारण नाद में ही लीन हो जाता है। इसी प्रकार अभ्यास में तत्पर रहता हुआ योगी सभी गुणों पर विजय प्राप्त करके और सभी प्रकार के कार्यों के आरम्भ को त्यागकर

चिदाकाश में लीन होजाता है। अर्थात् आनन्दमय हृदयाकाश में लय का प्राप्त होता है ॥४३-४४

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥४५

सिद्धासन के समान (अभ्यास में सरल) कोई अन्य आसन नहीं है कुम्भक (प्राणायाम द्वारा प्राणवायु को भर कर भीतर रोकने) के समान कोई बल नहीं है। अर्थात् कुम्भक से अत्यन्त बल की प्राप्ति होती है। खेचरी मुद्रा के समान न कोई मुद्रा है और न नाद के समान कोई लय ही है। इस प्रकार सिद्धासन, कुम्भक, खेचरी और नाद सब अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं ॥४५

षट्चक्र वर्णन

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रिये ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपि साधकः ॥४६
समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक् कृत्वा च योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा गुरुं संतोष्य बुद्धिमान् ॥४७

शिवजी कहते हैं कि हे प्रिये ! अब मैं तुम्हारे प्रति मुक्ति का अनुभव कहता हूँ, जिसे जान लेने पर, साधक यदि पापों में लिप्त रहा हो तो भी मुक्ति की प्राप्ति होती है। योगाभ्यासी बुद्धिमान् पुरुष को ठीक प्रकार से ईश्वर का पूजन करके स्वस्थ चित्त से आसन पर स्थित होना चाहिए और गुरु को सब प्रकार संतुष्ट रखकर ही इस योग को ग्रहण करना चाहिए ॥४६-४७

जीवादि सकलं वस्तु दत्वा योगविदं गुरुम् ।
सन्तोष्यातिप्रयत्नेन योगोऽयं गृह्यते बुधैः ॥४८

विप्रान् सन्तोष्य मेधावी नानामङ्गलसंयुतः ।
ममालये शुचीभूत्वा गृह्णीयाच्छुभमात्मनः ॥४९

सन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ।
भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ॥५०

विद्वान् योग-जिज्ञासु को उचित है कि वह जीवादि सब वस्तुएँ योगवेत्ता गुरु को समर्पण करे और उन्हें सब प्रकार सन्तुष्ट करके यत्न पूर्वक योग को ग्रहण करते हैं। योग ग्रहण करने वाले मेधावी साधक का कर्त्तव्य है कि वह ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करके अनेक मङ्गल-मय विधियों से युक्त होता हुआ मेरे (अर्थात् शिवजी के) मन्दिर में शुद्धता पूर्वक बैठे और आत्मा की प्राप्ति के लिए इस शुभ योग को प्राप्त करे। इस विधि से गुरु की कृपा प्राप्त करके साधक अपने पूर्व शरीर को त्याग कर दिव्य शरीर को प्राप्त करता हुआ योग को ग्रहण करे। आशय यह है कि योग-ग्रहण करने के समय साधक को गुरु की प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिए। इससे उसका शरीर रोगादि से रहित होकर दिव्य होजाता है ॥४८-५०॥

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः ।
विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ॥५१

सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः ।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धो भवेखलु ॥५२

योगी को लोगों का संग छोड़ कर एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर बैठना चाहिये और दोनों विज्ञान नाड़ियों (इडा और पिंगला) को अँगुलियों से रोकना चाहिए। अर्थात् पद्मासन लगा कर प्राणायाक का अभ्यास करना चाहिए, जिससे कि इडा-पिंगला नाड़ियों की सिद्धि हो सके। इस विधि के द्वारा साधक

के हृदय में सुख-स्वरूप निरंजन चैतन्य आत्म-प्रकार का भान होने लगता है। परन्तु योग की सिद्धि में परिश्रम करने से ही उपलब्धि सम्भव होती है ॥५१-५२॥

यः करोति सदाभ्यास तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
वायुसिद्धिभवेतस्य क्रमादेव न संशयः ॥५३
सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद्ध्रुवम् ।
तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्र संशयः ॥५४

जो पुरुष इसका अभ्यास सदा करता रहता है, उसे सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होकर क्रमपूर्वक वायु की सिद्धि भी स्वतः प्राप्त होजाती है इसमें संशय नहीं है। जो योगी इस अभ्यास को नित्यप्रति एक बार भी करता है तो उसके सभी पापों का अवश्य ही नाश पोजाताहै। फिर इसमें भी सन्देह नहीं रहता कि उसका प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में प्रबिष्ट हो जाता है ॥५३-५४॥

एतदभ्यासशीलो यः स योगो देवपूजितः ।
अणिमादिगुणान् लब्ध्वा विचरेद्भवनत्रये ॥५५
यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्तस्य विग्रहः ।
तिष्ठदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ॥५६

जो योगी इस प्रकार से निरन्तर अभ्यासशील रहता है, वह देवताओं द्वारा पूजिता होता है और अणिमादि सिद्धियों को उपलब्ध करके वह तीनों लोकों में विचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जो साधक जिस प्रकार से प्राणवायु को संयमित करने का अभ्यास करता है, उसे प्रकार की शरीर-सिद्धि प्राप्त होती है और वह मेधानी पुरुष आत्मा में स्थिर होकर सदैव दिव्य क्रीधा में निमग्न रहता है ॥५५-२६॥

एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।
सप्रमाणः समायुक्तस्तमेव कथ्यतेः ध्रुवम् ॥५७॥

इस प्रकार का यह योग परम गोपनीय है, इसे हर किसी व्यक्ति को अर्थात् अनधिकारी को कभी नहीं बताना चाहिए, यदि साधक उपर्युक्त लक्षणों वाला सिद्ध होता होतो उसे अवश्य दे। आशय यह है कि विद्वान् गुरु यह योग विद्या उसी शिष्यको दे जो श्रेष्ठ आचरण वाला और लगनशील हो, क्योंकि विद्या में रुचि रखने वाला और उसके अनुसार चलने वाला साधक हो विद्या-प्राप्ति का अधिकारी होता है। जो योगविद्या में अश्रद्धा न रखने वाला जान पड़े या चंचल चित्त का हो उसे इसकी शिक्षा न दे ॥५७॥

योगी पद्मासने तिष्ठेत् कण्ठकूपे यदा स्मरन् ।
जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥५८॥
कण्ठकूपादधःस्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना ।
तस्मिन् योगी मनो दत्त्वा चित्तस्तैर्यं लभेद्भृशम्॥५९॥

जब पद्मासन में अवस्थित हुआ योगी कण्ठकूप के स्मरण में चित्त का लय करके जीभ को तालुमूल में लगा लेता है, तब वह भूख-प्यास से रहित होजाता है। कण्ठकूप के नीचे के स्थान में जो कण्ठ नाड़ी सुशोभित है, योगी उस नाड़ी में अपने चित्त को स्थित कर ले तो उससे उसे चित्त दृढ़ता प्राप्त हो जायगी। तात्पर्य यह है कि कूर्म नाड़ी में चित्त स्थिर करने से उसकी चंचलता नष्ट होजाती है ॥५८-५९॥

शिरः कपाले रुद्राक्ष विवरं चिन्तयेद्यदा ।
तदा ज्योतिःप्रकाशः स्याद्विद्युत्पुन्जसमप्रभः ॥६०॥

एतच्चिन्तनमात्रेण पापानां संक्षयो भवेत् ।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥६०

मनुष्य के शिर और कपाल में रुद्राक्ष विवर होता है, उसमें यदि चिन्तन करता है तो उसे विद्युत् की राशि के समान आत्म ज्योति का प्रकाश दिखाई देता है। वह योगी उस आत्मज्योति का चिन्तन करे तो उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। यदि वह साधक दुराचार में भी लिप्त रहा हो तो भी उसे परमगति की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसे साधक के सभी पाप दूर होजाते हैं और वह मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है ॥६०-६१॥

अहर्निश यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षण: ।
सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषण च भवेद्ध्रुवम् ॥६२
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥६३

जो साधक दिन-रात इस प्रकार से आत्म-चिन्तन में लगे रहते हैं उन्हें सिद्ध पुरुषों के दर्शन और वार्तालाप का लाभ प्राप्त होता है, यह निश्चय ही सत्य है। इस प्रकार जो पुरुष बैठते, चलते, सोते, भोजन करते आदि सभी समय या निरन्तर दिन-रात आत्म-ध्यान में तत्पर रहते हैं वे आकाशमय होकर चिदाकाश में लय होजाते है। अर्थात् हृदयाकाश में आत्मदर्शन करते हुए आत्ममय होजाते और परमात्म में लय को प्राप्त होते हैं ॥६२-६३॥

एतज्ज्ञानं सदा काय योगिना सिद्धिमिच्छता ।
निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ।
एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥६४

जो साधक सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखता हो, उसे इस प्रकार से आत्म-ध्यान करने का निरन्तर अभ्यास हो जाता है और इस ज्ञान के प्रभाव से वह सभी जीवों की प्रियता प्राप्त करता है। आशय यह है कि आत्मध्यान में तत्पर पुरुष का विरोधी कोई नहीं रहता। सभी उससे प्रेम करते हैं। इस विधि-विधान का ज्ञान रखने वाला साधक, अपने उस ज्ञान के बल से ही सब लोकों में, सभी का प्रिय होजाता हैं। उससे द्वेष कोई भी नहीं करता ॥६४॥

सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशीरपरिग्रहः।
नासाग्रे दृश्यते येन पद्मासनगतेन वै।
मनसो मरणं तस्य खेचरत्वं प्रसिद्धयति ॥६५
ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुः शुद्धाचलोपमम्।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥६६

वह योगी सभी भूतों पर विजय प्राप्त करके भूख-प्यास और परिग्रह आदि की इच्छा से मुक्त होकर पद्मासन लगाकर बैठता हुआ नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर कर लेता है, उसका मन दृढ़ होताजा और खेचरत्व अर्थात् आकाश गमन की सामर्थ्य प्राप्त होजाती है। इस प्रकार जो योगिन्द्र शुद्ध चित्त से उस शुद्ध और अचल के समान परमज्योति के दर्शन कर लेता है, तब योगाभ्यास के बल से स्वयं ही उसका रक्षक होता है। तात्पर्य यह है कि ज्योति दर्शन कर लेने पर उसका अभ्यास इतना दृढ़ होजाता है कि वह स्वयं ही उस अभ्यास को नहीं छोड़ता और इस प्रकार अभ्यास की भी रक्षा होती रहती है ॥६५-६६॥

उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्निरन्तरम् ।
सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी विचक्षणः ॥६७॥
शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ॥६८॥

बुद्धिमान योगी भूमि में उत्तान शयन करे अर्थात् सीधा लेट कर निरन्तर ध्यान में तल्लीन रहे तो उसका श्रम (थकान) तुरन्त ही नष्ट होजाता है। जो साधक शिर के पृष्ठभाग का ध्यान करता है, वह मृत्यु का जीतने वाला होजाता है। यह सभी फल भौंहों के मध्य में दृष्टि के स्थिर करने मात्र का है, इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं ॥६७-६८॥

चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा विभज्यते ।
तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ॥६ ॥
सप्तधातुमयं पिण्डमेति पृष्णाति मध्यगः ।
याति विण्मूत्ररूपेण तृतीयः सप्तमो बहिः ॥७०॥

चार प्रकार का अन्न सेवन करने से तीन प्रकार के रस की उत्पत्ति होती है। उसमें जो सारभूत रस है वह लिंग-शरीर को परिपुष्ट करता है। दूसरा रस सप्तधातुमय पिण्ड को पुष्ट करता है तथा तीसरा रस सप्तधातु से बाहर (अर्थात् भिन्न) मल-मूत्र स्वरूप होता है ॥६९-७०॥

आद्यभागं द्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला अपि ।
पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतलमस्तकम् ॥७१॥
नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चरते यदा ।
तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रवर्तते ॥७२॥

पहले जो रस दो बताये हैं, वही समस्त नाड़ीरूप होते हैं तथा वे ही पाँव से मस्तक पर्यन्त शरीरस्थ वायु के पोषण में लगे रहते हैं। वायु जब सभी नाड़ियों के साथ संचार करता है, तब उसके प्रभाव से अन्न का रस समान भाव से समूचे शरीर में प्रवर्त्त होता है। अर्थात् शरीरस्थ वायु रस रूप हुए अन्न के द्वारा सम्पूर्ण अंगों को पुष्ठ करता रहता है ॥७१-७२॥

चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्यभागतः ।
ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणसञ्चारनाडिकाः ॥७३॥

सभी नाड़ियों में जो चौदह नाड़ियाँ (प्रमुख) हैं, वही शरीर के मुख्य अंगों में व्यापार करती हैं अर्थात् शरीर के सभी व्यापार को चलाती हैं। प्राण-संचार करने वाली इन नाड़ियों में सभी समान हैं, किसी को किसी से कम नहीं समझना चाहिए ॥७३॥

गुदाद्व्यङ्गुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकाङ्गुलतस्त्वधः ।
एवं चास्ति समं कन्दं समता चतुरङ्गुलम् ॥७४॥
पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा ।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा ॥७५॥
संवेष्ट्य सकला नाडीः साद्र्धत्रिकुटिलाकृतिः ।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता ॥७६॥

गुदा से दो अँगुल ऊपर और मेढ्र से एक अँगुल नीचे चार अँगुल प्रमाण का एक कन्द है। गुदा और मेढ्र के मध्य में स्थित योनि पश्चिमाभिमुखी अर्थात् पीछे की ओर मुख वाली है। वहीं वह कन्द विद्यमान है, उसी स्थान में कुण्डलिनी शक्ति का सदा निवास रहता है। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों को आवृत्त करके साढ़े तीन कुण्डल मार कर कुटिलाकृति किये हुए तथा मुख में पूँछ को धारण किये हुए सुषुम्ना विवर में रहती है ॥७४-७६॥

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्गेवी बीजसंज्ञिका ॥७७
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजतमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥७८

यह कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान आकृति वाली सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यह अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित रहती हुई सर्प के समान सन्धि में स्थित रहती है। वह वाग्देवी बीज संज्ञा वाली है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति ही वाणी की सिद्धि देने वाली और संसार की बीज स्वरूपा है। यह कुण्डलिनी भगवान विष्णु की शक्ति ओर तपाये हुए स्वर्ण के समान निर्मल तेज से सम्पन्न है तथा यह सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति से ही तीनों गुणों की उत्पत्ति होती है ॥७७-७८॥

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ।
कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥७९
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्थितम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥८०

कुण्डलिनी के स्थान में ही बन्दूक पुष्प के समान लालवर्ण की आभी वाला कामबीज स्थित बताया जाता है। वह तपाये हुए स्वर्ण के समान उज्ज्वल और प्रयुक्त अक्षर स्वरूप है। जहाँ कुण्डलिनी शक्ति का निवास है, वहीं कामबीज के साथ सुषुम्ना स्थित रहती है। वह कामबीज शरद के चन्द्रमा के समान तेजस्विता से सतन्विता हुआ तथा करोड़ चन्द्रमाओं के समान शीतल रहता है ॥७९-८०॥

एतत्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी।
बीजसंज्ञ परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥८१
क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमत्।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भूलिंगसंज्ञितम् ॥८२

यह तीनों अर्थात् कुण्डलिनी कामबीज और सुषुम्ना मिल कर ही देवी त्रिपुर भैरवी नाम धारण कर लेते हैं। बीज संज्ञक वह देवी अत्यन्त तेजोमयी कहलाती है वही बीज क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से समन्वित होकर शरीर में विचरण करता रहता है। वह कभी ऊपर की ओर जाता है, कभी जल में प्रविष्ट होता है और कभी सूक्ष्म होजाता है तथा प्रज्वलित अग्नि के समान शिखा से युक्त परम तेजोमय बिन्दु रूप से योनिस्थान में स्वयंभू लिंग संज्ञा धारण किये रहता है ॥८१-८२॥

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः।
परिस्फुरत् वादिसान्तचतुर्वर्ण चतुर्दलम् ॥८३
कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम्।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥८४

यह ऊपर कहा गया आधार पद्म संज्ञक है। पद्म के मूल में योनि स्थित है। यह अत्यन्त प्रकाशमान पद्म अपने चार दलों से व' से 'स' तक के वर्णों से सुशोभित रहता है। अर्थात् इस पद्म के चार दल होते हैं, उन दलों में व,श,ष,स यह चारों अक्षर रहते हैं (इस पद्म को मूलाधार चक्र कहते हैं। वह पद्म कुलाभिध अर्थात् कुल संज्ञक कहलाता है। (कुल का अर्थ स्थान भी है, इसलिए यहाँ इसका आशय कुण्डलिनी का स्थान भी हो

सकता है। उसकी स्वर्ण के समान कान्ति होती है। वह स्वयंभू लिंग में समन्वित है। उसमें द्विरण्ड संज्ञक सिद्ध का निवास तथा अधिष्टातृ देवता डाकिनी है ॥८३-८४॥

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनो स्थिता ।
तस्य ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥८५॥
यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्याद्दादुरी सिद्धिभूमित्यागक्रमेण वै ॥८६॥

उस कमल के मध्य में जो योनि है, उसमें कुण्डलिनी स्थित रहती है, जिसके ऊपर दीप्तिवन्त तेज के समान कामबीज भ्रमण करता रहता है। जो विद्वान् साधक इस मूलाधार पद्म अर्थात् चक्र के ध्यान में तत्पर रहते हैं, उनको दादुरी वृत्ति सिद्ध हो जाती है अर्थात् वे मेंढक जैसी चेष्टा करने लगता है और जैसे मेंढक उछलता और फिर धरती पर आजाता है, वैसे ही साधक भी पहले भूमि से उठता और पुनः धरती पर आजाता है, तत्पश्चात् इसी प्रकार के क्रम से अन्त में धरती से उठकर आकाश गमन में समर्थ होजाता है ॥८५-८६॥

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम् ।
आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते ॥८७॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शस्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम् ॥८८॥

इस मूलाधार कमले के ध्यान से शरीर की कान्ति उत्कृष्ट होजाती और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। शरीर में कोई रोग नहीं रहता तथा कार्य दक्षता और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होजाती है अर्थात् साधक को सभी देखी-अनदेखी वस्तुओं का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल कातथा

कारण सहित सब पदार्थों का ज्ञान होजाता है। जो शास्त्र कभी नहीं सुना उसकी व्याख्या रहस्य सहित और सांगोपांग करने में समर्थ होता है ॥८७-८८॥

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ॥८९॥
जरामरणदुःखौघा नाशयति गुरोर्वचः ।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते सर्वकिल्बिषात् ॥९०॥

उस साधक के मुख में सरस्वती देवी का सदा निवास रहता है और जप करने मात्र से मन्त्र की सिद्धि हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। जरा, मरण, दुःख, रोग आदि सभी व्याधियों का गुरु के वचनों से नाश हो जाता है। प्राणवायु के अभ्यासी पुरुष को इस परम ध्यान में सदा तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि इसके मात्र से ही योगीन्द्र के सभी पाप दूर हो जाते हैं ॥८९-९०॥

मूलपद्मं यदा ध्यायेत् योगी स्वयम्भुलिङ्गकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद् ध्रुवम् ॥९१॥
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात् ।
निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम् ॥९२॥

जब योगी उक्त मूलाधार कमल रूप स्वयंभूलिंग का ध्यान करता है, तभी उसके सभी पाप क्षणमात्र में निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। योगी पुरुष इस कमल का ध्यान करते हुए जिस-जिस पदार्थ की कामना करते हैं, उसी-उसी को फल रूप में प्राप्त कर

लेते है। जो सदैव इसके अभ्यास में लगे रहते हैं, वे अवश्य ही मुक्ति के देने वाले आत्मा का दर्शन करते हैं ॥९१-९२॥

बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीय प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम ॥९३
आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥९४

वह आत्मा ही (परमात्मा रूप से) बाहर और भीतर (सर्वत्र) प्रयत्न पूर्वक पूजन के योग्य है, मेरे मत में यह योग सर्वश्रेष्ठ है, इसके समान कोई अन्य योग है ही नहीं। अपने देह में स्थित 'शिव' रूप आत्मा को त्याग कर बाहर अवस्थित देवता का पूजन करना उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि हाथ के पिण्ड को छोड़ कर जीव अन्य पिण्ड की प्राप्ति के लिए भ्रमण करते हैं ॥९३-९४॥

आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने।
तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥९५
निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासे सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्णायां भवेद्ध्रुवम् ॥९५
मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणाम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥९७

जो साधक निरालस्य होकर नित्य प्रति देह में स्थित आत्मा का पूजन किया करता है, उसके लिए सभी सिद्धियों की उपलब्धि सहज ही होजाती है। इसमें विचार करने की कोई वात नहीं है। यदि निरन्तर छः मास तक अभ्यास कर ले तो उसे ऐसी सिद्धि प्राप्त होती है कि उसका प्राणवायु निश्चय ही

सुषुम्ना में प्रवेश कर लेता है और उसके फल स्वरूप मन पर विजय प्राप्त होती है तथा वह योगी वायु और विन्दु के धारण में समर्थ होजाता है। साथ ही इहलोक की भी सिद्धि हो जाती है, इसमें कुछ संशय नहीं है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का पूजन करने वाला साधक अपने इहलोक-परलोक दोनों को ही बना लेता है। इस लोक रह कर सभी सुखों का उपभोग करता है और मरणोपरान्त मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसे दोनों लोकों की सिद्धि प्राप्त होजाती है ॥९५-९७॥

द्वितीयन्तु सरोजं च लिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
बादि लान्तं च षड्वर्ण परिभास्वरषड्दलम् ॥९८
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवो यत्रास्ति राकिणी ॥९९

दूसरा कमल लिंगमूल अर्थात् मेढ़ में स्थित है। वह छः दलों से युक्त है, जिन पर 'ल' तक अन्त होने वाले छः वर्ण सुशोभित हैं। यह स्वाधिष्ठान नामक कमल रक्त वर्ण का है। इसके स्थान में बाण संज्ञक सिद्ध और राकिनी नाम अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित रहती है। इस पद्म का देवता ब्रह्मा है ॥९८-९९॥

यो ध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥१००
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥१०१

जो साधक इस स्वाधिष्टान नामक कमल का सदा ध्यान किया करते हैं, उनके रूप पर मोहित हुई कामरूपिणी स्त्रियां सदा भजती रहती हैं अर्थात् काम से विमोहित हुई स्त्रियाँ सदा उनके आगे-पीछे खड़ी रहती हैं। उस साधक ने जिन शास्त्रों को

कभी भी न सुना हो,तो भी वह उनका निःशंक होकर व्याख्यान करने में अवश्य ही समर्थ होता। उसके शरीर में कैसा भी रोग हो, उससे छुटकारा होकर आरोग्य की प्राप्ति होती है और वह संसार में भय-रहित रूप से विचरण करता है ।।१००-१०१।।

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ।।१०२।।
वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ।।१०३।।

यह साधन साधक की मृत्यु को भी नष्ट करने में समर्थ है, क्योंकि उसे कोई किसी भी प्रकार से नहीं मार सकता । उसे गुण प्रदान करने वाली अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है । और सम्पूर्ण शरीर में वायु का संचार स्वाभाविक रूप से होता है, जिससे कि रस की वृद्धि होती है । आशय यह है कि प्राणवायु सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है और सहस्रार से जिस पीयूष का स्राव होता है, उसकी भी वृद्धि होती ।।१०२-१०३।।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ।।१०४।।
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ।।१०५।।

तीसरा कमल मणिपूर कहलाता है इसकी स्थिति नाभि में है। वह स्वर्ण के समान वर्ण माला, दश दलों से सुशोभित रहता है। वह 'ड' से 'फ' तक के अक्षरों से युक्त है अर्थात् ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न. प, फ यह अक्षर उसके दलों पर अंकित रहते

हैं। वही सर्व मंगल प्रदान करने वाले रुद्र संज्ञक सिद्ध और परम धार्मिका लाकिनी नाम की अधिष्ठात्री देवी विराजमान रहती है। (इस चक्र के देवता भगवान् विष्णु माने जाते हैं) ॥१०४-१०५॥

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१०६॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥१०७॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धिनां दर्शनं भवेत् ।
औषधीदर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥१०८॥

इस मणिपूर संज्ञक कमल का जो योगी सदैव ध्यान करते हैं, वे सभी सिद्धियों के देने वाली पाताल नाम की सिद्धि को प्राप्त होते हुए निरन्तर सुखी रहते है। उनके सभी इच्छितों की पूर्ति होती तथा रोगादि दुःखों का विनाश होता है। वह काल के उल्लंघन में भो समर्थ होता तथा परकाया प्रवेश भी कर सकता है। इसके द्वारा साधक स्वर्ण आदि बनाने में सिद्ध हस्त होजाता है। उसे सिद्धों का दर्शन और औषधियों का दर्शन अर्थात् दिखाई न देने वाली जड़ी-बूटियाँ या संजीवन बूटी आदि दिखाई देने लगती है और निधि-दर्शन अर्थात् भूमि में गढ़ा हुआ या छिपा हुआ धन भी दिखाई देने लगता है। १०६-१०८॥

हृदयेऽनाहतं नामचतुर्थं पङ्कजं भवेत् ।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥१०९॥
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥११०॥

हृदय स्थान में अनाहत नामक चौथा कमल स्थिर है, वह 'क' से 'ठ' तक अर्थात् क, ख ग, घ, ङ, च, छ, ज. झ, ञ, ट, ठ, इन बारह अक्षरों से सुशोभित बारह दल का होता है। वह अत्यन्त लाल वर्ण का वायुबीज तथा प्रसन्नता स्थान है। उस कमल में जो परम तेज है, उसे बाणलिंग कहते हैं, जिसके स्मरण मात्र से साधक को दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है अर्थात् उसे लोक-परलोक का सुख मिलता है ॥१०९-११०॥

सिद्धिः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता।
एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः ॥१११
ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥११२

जिस कमल में पिनाकी (शिव सिद्ध हैं और अधिष्ठात्री देवी काकिनी है, उस हृत्पद्म में जो साधक सदा ध्यान किया करता है, उसके पास सुन्दरी स्त्रियाँ और देवांगनाएँ भी कामार्त्त हो कर आती हैं। वह साधन अपूर्व ज्ञान के उत्पन्न होने से त्रिकाल दर्शी हो जाता है। उसे दूर श्रुति अर्थात् सुदूर के शब्द सुनने और दूर दृष्टि अर्थात् दूरस्थ सूक्ष्म पदार्थों के देखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तथा वह स्वेच्छापूर्वक आकाश-गमन में समर्थ होता है अर्थात् आकाश में चाहे जब, चाहे जहाँ उड़ सकता है ॥१११-११२॥

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनी दर्शनं तथा।
भवेत् खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयं तथा ॥११३
यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिङ्गं द्वितीयकम्।
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥११४

एतद्धयानस्य महात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।।
ब्रह्माद्याः सकलादेवा गोपयन्ति परन्त्विदम् ।।११५

उसे सिद्धों के और योगिनी के दर्शन होते हैं और खेचरी मुद्रा सिद्ध होकर आकाश-स्थित जीव भी वश में हो जाते हैं। जो योगी इस परम अविनाशी द्वितीय वाणलिंग का ध्यान करता है, उसे सिद्धगणों का और योगिनी का दर्शन होता है तथा खेचरी मुद्रा और भूचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है, इसमें संशय नहीं। इस पद्म के ध्यान का माहात्म्य वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मादि सभी देवता इसे अत्यन्त गुप्त रखते हैं। अर्थात् किसी को भी नहीं बताते ।।११३-११५।।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्ध नाम पञ्चमम् ।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ।
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता ।।११६

कण्ठ स्थान में विशुद्ध संज्ञक पाँचवाँ कमल है, जो कि स्वर्ण जैसी आभा वाला, तेजस्वी और सोलह स्वरों (नक्षरों) से सम्पन्न है। अर्थात् इसमें सोलह दल हैं उन पर 'अ' 'अः' तक के स्वर सुशोभित हैं, यथा अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। इस स्थान में छगलाण्ड सिद्ध, अधिष्ठात्री शाकिनी देवी सदा रहती हैं ।।११६।।

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः ।
किन्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ।।११७
इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत् ।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ।।११८

जो इस (विशुद्ध चक्र) का ध्यान नित्य नियमपूर्वक करते है, वे योगीश्वर पण्डित हो जाते हैं। इस विशुद्ध नामक कमल में ध्यान करने से रहस्य सहित चारों वेदों की उपलब्धि उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार कि किसी को धन से परिपूर्ण खजाने की प्राप्ति हो जाय। जब योगी का मन और प्राण इस विशुद्ध पद्म में स्थित हो, तब यदि उसे किसी प्रकार से क्रोध हो जाय तो उसके प्रभाव से सम्पूर्ण त्रिलोकी ही कम्पायमान हो जाती है, इसमें संशय नहीं है ॥११७-११८॥

इह स्थाने मनो यस्य दैवात् याति लयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥११९॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥१२०॥
यदा त्यजति तद्ध्यानं योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥१२१॥

जब साधक का मत दैववशात् इस विशुद्धाख्य पद्म में लय को प्राप्त हो जाता हैं, तब वह सम्पूर्ण बाहरी विषयों का परित्याग करता हुआ प्राण के सहित शरीर के भीतर ही रमण करता हैं, इसमें सन्देह नहीं है। अपनी ही शक्ति से इतना दृढ़ हो जाता है, वह किसी प्रकार भी क्षीण नहीं हो सकता और वज्र से भी अधिक कठोरता आ जाती है और जब हजार वर्ष की समाधि के पश्चात् उस ध्यान से विरत होने पर योगी की चित्तवृत्ति संसार में लौटती है, तब उसे वह हजार वर्ष एक क्षण व्यतीत होने के समान प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी जब समाधिस्थ हो जाता है तब उसे समय का पता नहीं चलता

और सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर भी वह समय ऐसा लगता है, जैसे कि क्षणभर व्यतीत हुआ हो ।।११९-१२१।।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।

शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ।।१२२

भौंहों के मध्य में आज्ञा नामक कमल है, उसमें है दो दल, जिन पर 'ह' और 'क्ष' दो बीजाक्षर अंकित हैं। वे दोनों दल शुक्ल आभा वाले हैं। उस स्थान में महाकाल सिद्ध और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री रूप से स्थित रहती है। इस कमल के देवता परमात्मा माने जाते हैं तथा इसे आज्ञाचक्र भी कहते हैं ।।१२२।।

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीज विजृम्भितम् ।

पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ।।१२३

तत्र देवः परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।

चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ।।१२४

उस आज्ञापद्म के मध्य में शरद् के चन्द्रमा की आभा जैसा परम तेजस्वी चन्द्रबीज ('ठ' बीज) स्थित रहता है। जिसे जान लेने पर परमहंस पुरुष को कभी किसी प्रकार का अवसाद नहीं रहता। वहाँ परम तेज का जो प्रकाश है, वह सब प्रयत्नों के द्वारा भी गुप्त रखना चाहिए। इसके चिन्तन मात्र से परम सिद्धि की प्राप्ति होती है । इसमें कोई संशय नहीं है ।।१२३-१२४।।

तुरीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्ति दायकः ।

ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ।।१२५

इडा ही पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः ॥१२६

उस स्थान में तुरीय तृतीय लिंग के रूप में, मैं मुक्तिदायक ही विराजमान हूँ। इसका ध्यान करने मात्र से योगीन्द्र मेरे समान ही हो जाता है,यह सत्य है। अर्थात् शिवजी ने पार्वतीजी से कहा कि वहां तुरीय तृतीय लिंग के रूप में योगी यदि मेरा ध्यान करे तो मेरे ही सायुज्य पद को प्राप्त हो जाता है। शरीर में यह जो इड़ा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं, उन्हें वरणा और असी भी कहते हैं। इन वरणा और असी अर्थात् वाराणसी के मध्य में विश्वनाथ स्वयं ही विराजमान रहता हूँ ॥१२५-१२६॥

एतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यंमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्वं सुभाषितम् ॥१२७
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्या तदाज्ञापद्मदक्षिणे ।
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥१२८

इस वाराणसी क्षेत्र के माहात्म्य का वर्णन तत्वदर्शी ऋषियों एवं अनेक शास्त्रों ने अनेक बार परमतत्व के रूप में किया है। अर्थात् ऋषियों और शास्त्रों ने वाराणसी को 'परमतत्व' ही माना है। मेरुदण्ड के द्वारा सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक गई है और इडा नाड़ी सुषुम्ना के ऊपर परावृत्त होती हुई तथा आज्ञा-पद्म के दक्षिण ओर होती हुई बाँये नासापुट को चली गई है, इसे गङ्गा कहा जाता है ॥१२७-१२८॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥१२९

त्रिकोणारतस्तस्या: सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः ॥१३०
अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ।
वामनासापुटं याति गङ्गेत्युक्ता हि योगिभिः ॥१३१

ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार (सहस्रदल कमल) है, जिसके कन्द में जो योनि है, उसी में चन्द्रमा विराजमान रहता है। उसी त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रामृत का स्राव सदा होता है। वह चन्द्रमा से स्रवित अमृत धारा रूप होकर सदा इड़ा नाड़ी के द्वारा गमन करता रहता है। उस इडा नाड़ी का प्रवाह बाँए नासापुट में होने के कारण ही योगिजन इसे गङ्गा कहते हैं ॥१२९-१३१॥

आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटं गता ।
उदग्वहेति तत्रेडा गङ्गेति समुदाहृता ॥१३२
ततो द्वयमिह स्थाने वाराणस्यान्तु चिन्तयेत् ।
तदाकारा पिङ्गलापितदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥१३३

जो इड़ा नाड़ी आज्ञापद्म के दाँये भाग से चलती हुई बाँए नासापुट को जाती है, वही उद्गवाहिनी गङ्गा कहलाती है। इस प्रकार इड़ा और पिंगला के मध्य स्थान को वाराणसी मान कर चिन्तन करे। इड़ा नाड़ी के समान पिंगला नाड़ी आज्ञापद्म के बाँए भाग से चलकर दाँए नासापुट को जाती है। इसलिए मैंने इस पिंगला नाड़ी का नाम असी रखा है ॥१३३२-१३३॥

मूलाधारे हि यत् पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्योव्यवस्थितः ॥१३४

तत् सूर्यमण्डलद्वारं विषं क्षरति सन्ततम् ।
पिंगलायां विषं तत्र समर्थयति तापनः ॥१३५
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ।
दक्षनासापुटे याति कल्पितयन्तु पूर्ववत् ॥१३६

चार दल वाला जो मूलाधार पद्म है, उसके कन्द में विद्यमान योनि में सूर्य का निवास है। उस सूर्य मण्डल के द्वार से सदा विष का स्राव होता रहता है । वह विष धारा रूप होकर पिंगला नाड़ी के द्वारा तापयुक्त रूप से प्रवाहित रहता है। यह नाड़ी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है. दाँये नासापुट में जाती है ॥१३४-१३६॥

आज्ञापङ्कजवामा स्याद्दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहा पिङ्गलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ॥१३७
आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ॥
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्य भालपद्मे व्यवस्थितम् ॥१३८

यह पिंगला नाड़ी आज्ञापद्म के बाँए भाग से होती हुई दांए नासापुट में गई है, इसीलिए इस नाड़ी को असी कहा जाता है। यह जो आज्ञाकमल कहा गया है इसके देवता महेश्वर हैं। योग का चिन्तन करने वाले साधक का कथन है कि इस कमल के ऊपर तीन पीठ स्थित हैं, जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहते हैं। यह तीनों इस आज्ञा-कमल रूप भालपद्म अर्थात् भौंहों के मध्य में स्थित कमल में विराजमान हैं ॥१३७-१३८॥

यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ।
पूर्वजन्मकृतं कर्म वितश्येदविरोधतः ॥१३९

इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।
सदा करोति प्रतिमां प्रतिजापमनर्थवत् ॥१४०

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ॥१४१

जो योगी इस गोपनीय आज्ञा कमल के ध्यान में तल्लीन रहते हैं, उनका पूर्व जन्म में किये हुए कर्म का फल निर्विघ्न रूप से नष्ट हो जाता है अर्थात् उस साधक को फिर किसी कर्मफल के भोग की अपेक्षा नहीं रहती। जो साधक इस कमल का निरन्तर ध्यान करते हैं, उनके लिए किसी प्रतिमा का पूजन या जप करना निरर्थक ही है। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा किन्नरादि सभी उस सदा ध्यान में लगे रहनेवाले योगी के वशमें होकर सदा उसके चरणों की सेवा में लगे रहते हैं।१४०-१४१।

करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम् ।
लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ॥१४२

अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ॥१४३

यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मे फलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ॥१४४

जो योगी अपनी जीभ को ऊपर की ओर लौटा कर तालु-मूल में प्रविष्ट करता हुआ मन की निश्चलता पूर्वक उस भय-नाशक आज्ञापद्म का आधे क्षण भी ध्यान करता है, उसके सभी पाप उसी क्षण नष्ट होजाते हैं। अर्थात् आज्ञाचक्र के ध्यान से सब पाप दूर होते हैं और पहले पाँच कमलों के ध्यान का जो-जो

फल कहा है, वह सम्पूर्ण फल इस एक आज्ञापद्म का ध्यान करने से ही प्राप्त होजाता है ।।१४२-१४४।।

यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ।।१४५
प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ।।१४६

जो विचक्षण साधक इस आज्ञा कमल का सदा अभ्यास किया करते हैं, वे वासना रूपी महाबन्धन का उल्लघन करके सदा आनन्द में मग्न रहते हैं। अर्थात् वासना का महाबन्ध इसके अभ्यास से निर्मूल हो जाते हैं। जो विद्वान् योगी उस आज्ञा कमल का मृत्यु के समय ध्यान करता है, वह धर्मात्मा पुरुष प्राण को छोड़ कर परमात्मा में लीन होजाता है ।।१४५-१४६।।

तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरुते नरः ।
पापकर्मविकुर्वाणो नहि मज्जति किल्बिषे।।१४७
राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।।१४८
द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ।।१४९

जो पुरुष बैठते, चलते, सोते, जागते उस आज्ञाचक्र के ध्यान में सदा लगा रहता है, वह यदि पापकर्म में लगा हो तो भी उन पापों से हठ कर मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कमल का ध्यान करने वाला साधक राजयोग का अधिकारी होता है, यह अवश्य ही सत्य है। वह योगी अपनी ही प्रभा से सभी बन्धनों से स्वयं ही छूट जाता है। अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए किसी

अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। इस दो दल वाले कमल के माहत्म्य का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। क्योंकि ब्रह्मा आदि देवगण भी इसके माहात्म्य को मुझसे ही सुन कर किंचित् ही जान पाते हैं ॥१४७-१४९॥

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥१५०
तालुमुले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योन्यन्त:सर्वनाडच: समाश्रिता: ।
ता बीजभूतास्तत्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिका: ॥१५१

इसी आज्ञा कमल के ऊपर तालुमूल में सहस्रार अर्थात् सहस्रदल कमल सुशोभित है। वहीं ब्रह्मरन्ध्र के विवर मूल से सुषम्ना नाड़ी स्थित है। उस सुषुम्ना का मुख नीचे की ओर अर्थात् तालुमूल में विद्यमान है और मूलाधार से योनिपर्यन्त जितनी भी नाड़ी हैं वे सब इस तत्वज्ञान की बीज स्वरूपा एवं ब्रह्ममार्ग के देने वाली सुषुम्ना के आश्रय में स्थित रहती हैं ॥१५०-१५१॥

तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥१५२
तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविबरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्र तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥१५३

तालु स्थान में जो सहस्रार पद्म कहा गया है, उसके कन्द में पश्चिम की ओर मुख वाली एक योनि है अर्थात् उस योनि का मुख पीछे की ओर है। उस योनि के मध्य मूल विवर से सुषुम्ना

नाड़ी की स्थिति है। उस विवर को ही ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और यही मूलाधार कमल कहलाता है ॥१५२-१५३॥

तत्रान्तरंध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णा कुण्डलीसदा ॥१५४

सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रा स्यान्मम बल्लभे।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना ॥१५५

सुषुम्ना नाड़ी के रन्ध्र में यह कुण्डलिनी सदा विराजमान रहती है। सुषुम्ना के भीतर स्थित यह शक्ति चित्रा नाड़ी कहलाती है। मेरे विचार में इसी चित्रा नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र आदि की कल्पना हुई है। अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रादि अवयव चित्रानाड़ी के अनुसार ही कल्पित हुए ॥१५४-१५५॥

यस्याःस्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्। १५६
प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत्।
तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ॥१५७

इसी चित्रा नाड़ी का ध्यान करने मात्र से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होजाता है और सभी पापों का नाश करता हुआ योगी विश्व प्रपंच के बन्धन में नही पड़ता। दाँये हाथ के अँगूठे को मुख में घुसा कर मुख को दृढ़ता पूर्वक बन्द कर ले। ऐसा करने से शरीर में संचार करने वाला जो प्राणवायु है, वह अवश्य ही स्थिरता को प्राप्त होजाता है। तात्पर्य यह है कि दाँये हाथ के अँगूठे को मुख में डाल कर मुख बन्द करके वायुधारण करे तो वायु स्थिर होजाता है ॥१५६-१५७॥

तेन संचारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे ॥१५८

तत एवाखिला नाडी निरुद्धा त्वाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्तौ रन्धं त्यजति नान्यथा ॥१५९

इस प्रकार प्राणवायु के स्थिर होजाने पर साधक संसारचक्र में घूमते रहने से मुक्त होजाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। इसीलिए योगीजन प्राणवायु के धारण में प्रवर्त्त होते हैं। ऐसा करने से मल से परिपूर्ण सभी नाड़ियाँ खुल जाती हैं अर्थात् कामादि विकारों के कारण बन्द हुए मुख खुल जाते हैं तब कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र को छोड़ देती है, जिससे कि आत्मा-परमात्मा का ऐक्य होजाता है ॥१५८-१५९॥

यदा पूर्णासु नाडीषु संनिरुद्धानिलास्तदा।
बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रंध्राद्बहिर्भवेत्।
सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ॥१६०

जब वायु के निरुद्ध होने पर सभी नाड़ियों को वह वायु पूर्ण कर लेता है, तब कुण्डलिनी शक्ति अपने बन्धन को छोड़ कर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को भी छोड़ कर बाहर होजाती है और तब प्राणवायु का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में सदा प्रवाहित होने लगता है ॥१६०॥

मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा योनिमध्यगा ॥१६१
ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबंधाद्विचक्षणः ॥१६२

मूलाधार कमल में विद्यमान योनि के बाँए भाग में इड़ा और दाँए भाग में पिंगला नाड़ी की स्थिति है। इन्हीं दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना रहती है जो योनिस्थान गामिनी है।

उस सुषुम्ना नाड़ी के आधारमण्डल के मध्य ब्रह्मरन्ध्र है। जो विद्वान् इसे जान लेता है, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥१६१-१६२॥

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नानेस्नातकानांमुक्तिःस्यादविरोधतः ॥१६३
गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥१६४

इन तीनों (इडा, पिंगला, सुषुम्ना, नाड़ियों) का ब्रह्मरन्ध्र के मुख में संगम है, यह निःसंदेह सत्य है। अर्थात् यह तीनों ही नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र के मुख में मिली हैं। इन नाड़ियों (अर्थात् नाड़ी रूपी त्रिवेणी के संगम) में जो ज्ञानी पुरुष स्नान कर लेते हैं, वे अवश्य ही श्रेष्ठ मुक्ति को प्राप्त करते हैं। गङ्गा, यमुना संज्ञक इडा, पिंगला के मध्य सरस्वती नाम की सुषुम्ना है, इन तीनों के संगम में जो स्नान करता है, उसे परमगति प्राप्ति होती है ॥१६३-१६४॥

इडा गङ्गा पूरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सगोऽतिदुर्लभः ॥१६५
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥१६६

इन तीनों में से इडा गङ्गा और पिंगला यमुना कही जाती है। इन दोनों के मध्य सुषुम्ना नाम की सरस्वती है। इसी त्रिवेणी संगम कहते हैं। इसका सङ्ग (अर्थात् स्नान) अत्यंत दुर्लभ है। इडा और पिंगला के संगम में जो साधक मन से स्नान करता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१६५-१६६॥

त्रिवेण्यां सङ्गमे यो वे पितृकर्म समाचरेत् ।

तारयित्वा पितृन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ॥१६७

नित्य नैमित्तिक काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत् ।

मनसा चिंतयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ॥१६८

इस त्रिवेणी संगम में स्नान करके जो पुरुष पितृकर्म (तर्पणादि) का अनुष्ठान करते हैं, वे इसके प्रभाव से अपने सभी पितरों को तार कर (स्वयं भी) परमगति को प्राप्त करते हैं। इसी संगम में जो पुरुष नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए मानसिक चिन्तन करते हैं, उन्हें अक्षय फल को उपलब्धि होती है ॥१६७-१६८॥

सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गो सौख्यं भुनक्ति सः ।

दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्ध मतिः स्वयम् ॥१६९

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ॥१७०

जो शुद्ध बुद्धि वाले योगसाधक इस संगम में एक बार भी स्थान कर लेते हैं, वे अपने सभी शेष पापों को भस्म करते हुए सुख-भोग को प्राप्त होते हैं अर्थात् सुखी रहते हैं। वे अपवित्र दशा में हों या पवित्र दशा में, सभी अवस्थाओं में पड़े होने पर भी इस संगम में स्नान करने मात्र से अवश्य ही पवित्र हो जाँयगे, इसमें अन्यथा नहीं समझना चाहिए ॥१६९-१७०॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।

विचिन्त्यस्यस्त्यजेत्प्राणान्स तदामोक्षमाप्नुयात् ॥१७१

नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ॥१७२

जो साधक मरणकाल में ऐसा ध्यान करता हैकि मेराशरीर त्रिवेणी के पवित्र जल में गोते लगा रहा है, वह उसी क्षण प्राण को त्याग कर मोक्ष प्राप्त करता है । इस तीर्थ से बढ़ कर अन्य कोई तीर्थ तीनों लोकों में नहीं है । यह अत्यन्त गुह्य होने से प्रयत्न पूर्वक भी गुप्त रखने के योग्य ही है । इसकी व्याख्याकभी नहीं करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि त्रिवेणी में मानसिक स्नान की यह विधि अत्यन्त गोपनीय है, इसे अधिकारी पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी को न बतावे ॥१७१-१७२॥

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥१७३
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी लीयते ।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥१७४

यदि योगी ब्रह्मरन्ध्र में मन को लगा कर आधे क्षण भी स्थिर रख सके तो सभी पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त हो जायगा । क्योंकि इस ब्रह्मरन्ध्र में लीन हुए मन वाला पुरुष श्रेष्ठ योगी अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर, उनके द्वारा उपलब्ध सुखों का उपभोग करता हुआ स्वेच्छापूर्वक मुझ में ही लय हो जाता है । इसका आशय यह भी है कि वह योगी भोगों की इच्छा करता हो तो भोगों को प्राप्त करेगा और यदि मोक्ष चाहेगा तो मुक्त होजायगा ॥१७३-१७४॥

एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यं
संसारेऽस्मिन् बल्लभो मे भवेत्सः ।

पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै ।।१७५

शिवजी ने कहा कि इस ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करने मात्र से ससारी जीव मुझे प्रिय होजाता है तथा वह सभी पाप-समूहों को जीत कर मोक्षमार्ग का अधिकारी होता है। उसमें इतना ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि वह अनेक मुमुक्षुओं को ज्ञान का उपदेश देकर संसार से तार देता है ।।१७५।।

चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम् ।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्र मयोदितम् ।।१७६
पुरो मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरोरुहे ।
तस्याधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ।।१७७

मैंने यह ब्रह्मरन्ध्र का जो ध्यान बताया है, यह योगियों के लिए अत्यन्त प्रिय है। इसे प्रयत्न पूर्वक भले प्रकार से गुप्त रखना चाहिए। यह मार्ग ब्रह्मादि देवगण के लिए भी सुलभ नहीं है। मैंने जो सहस्रार कमल के मध्य में योनिमण्डल कहा है, उसी के नीचे चन्द्रमा की स्थिति है। बुद्धिमान् योगी इस चन्द्रमा का सदा ध्यान किया करते हैं ।।१७६-१७७।।

यस्त स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धाना सम्मतो भवेत् ।।१७८
शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।।१७९

इस चन्द्रमण्डल के स्मरण मात्र से योगीन्द्र भूमण्डल में पूजनीय होजाता है। वह देवताओं और सिद्धों की समता भी प्राप्त कर लेता है। अर्थात् देवताओं-सिद्धों के समान ऐश्वर्यशाली हो

जाता है। शिर में जो कपाल विवर स्थित है, उसमें क्षीरसागर का ध्यान करे और वहीं स्थित (सहस्रदल कमल) में चन्द्रमा चिन्तन करे ।।१७८-१७९।।

शिरः कपालविवरे द्विरष्टकलया युतः ।
पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ।।१८०
निरन्तरकृताभ्यासात्रिदिनेपश्यति ध्रुवम् ।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः ।।१८१

शिर में स्थित उसी कपाल विवर में सोलह कलाओं से युक्त एवं अमृत-रश्मियों से सम्पन्न हंसाख्य अर्थात् हंस नामक निरंजन आत्मा का चिन्तन करे। इस प्रकार तीन दिन तक निरन्तर अभ्यास करने से निश्चय ही निरन्जन आत्मा का दर्शन होता है और दर्शन मात्र से ही साधक के सभी पाप भस्म हो जाते हैं १८०-१८१।।

अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु ।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकञ्चकम् ।।१८२
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवाः ।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात ।।१८३

इस प्रकार शिरस्थ चन्द्रमा में आत्म-चिन्तन करने से अनजाने विषय का स्फुरण होता है अर्थात् जो विषय पहले उत्पन्न नहीं हुआ हो, उसकी उत्पत्ति अनुभव होने लगती है। इसके द्वारा चित्र का शोधन होता और तुरन्त ही पाँचों प्रकार के महापाप नष्ट होजाते हैं। तथा सभी ग्रह साधक के अनुकूल हो जाते हैं। सब उपद्रवों का नाश होकर उपसर्गों का शमन हो जाता है तथा युद्ध करने वाले को इसके प्रभाव से युद्ध में विजय प्राप्त होती है ।।१८२-१८३।।

खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेच्छीरेन्दुदर्शनात् ।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥१८४

सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः ।
सत्य सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥
योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥१८५

शिरस्थ चन्द्रमा में ध्यान करने वाले योगी को निश्चय ही खेचरी और भूचरी विद्या सिद्ध होती है। इस ध्यान के सदा अभ्यास करते रहने से साधक सिद्ध बन जाता है, मेरा यह कथन सत्य, ही है कि वह योगी मेरे-समान ही होजाता है। इस कथन पर कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है यह परम योग है जो योगी पुरुषों के लिए सिद्धि का देने वाला है ॥१८४-१८५॥

राजयोग वर्णन

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्यबाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥१८६
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥१८७

तालु के ऊर्ध्व भाग में दिव्य स्वरूप वाला जो सहस्रार पद्म है, ब्रह्माण्ड रूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है। यह सहस्रदल कमल मुक्ति का देने वाला है। यह कमल कैलास कहलाता है, क्योंकि इसकी स्थिति शरीर के ऊपर, कैलास के समान उच्च स्थान में है। इसी स्थान में महेश्वर का निवास है। यह अकुल संज्ञक ईश्वर अविनाशी है। इसका ह्रास या वृद्धि कभी भी नहीं होती ॥१८६-१८७॥

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणा संसारेऽस्मिन्
सम्भवो नैव भूयः। भूतग्रामं सन्तताभ्यासयो-
गात् कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥१८८

इस स्थान के जान लेने मात्र से मनुष्य को इस संसार में कभी उत्पन्न नहीं होना पड़ता। यह ज्ञान योग है, जिसका सदा अभ्यास करने वाले योगी को सभी भूतों के उत्पन्न करने और संहार करने की शक्ति प्राप्त होजाती है। आशय यह है कि उक्त स्थान के ज्ञान मात्र से ही साधक सर्व समर्थ होजाता है। ८८॥

स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निवि·
ष्टचेताः। योगी हृतव्याधिरधः कृताधिर्वायुश्चिरं
जीवति मृत्युमुक्तः ॥१८९

यह कैलास सप्रक स्थान परमहंस का निवासभूत है। अर्थात् परमहंस यहीं रहता है। इसलिए जो योगी इस स्थान में चित्त को स्थिर कर लेता है, वह सभी व्याधियों को नष्ट करने में समर्थ होता है तथा मृत्यु से मुक्त होकर चिरजीवी होजाता है ॥१८९॥

चित्तवृन्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे।
तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९०
निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत्।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥१९१

जब योगी इस कुल संख्यक परमेश्वर में चित्तवृत्ति को लीन कर लेता है, तभी उसे साम्य समाधि की प्राप्ति होकर निश्चलता होजाती है। यदि इसका निरन्तर ध्यान किया जाय उसे जगत् का स्मरण भी नहीं रहता और विचित्र सामर्थ्य की प्राप्ति होजाती है। यह कथन निश्चय ही सत्य है ॥१९०-१९१॥

तस्माद्गलितपीयूषं पिवेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरासुहे ॥१९२॥
अत्र कुण्डलिनीशक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥१९३॥

इसलिए जो योगी सहस्रार से स्रवित होते हुए अमृत का निरन्तर पान करता है, वह अपने कुल सहित मृत्यु की भी मृत्यु का विधान करके उसे जीत लेता है अर्थात् उस साधक को मृत्यु भी नहीं मार सकती। इसी सहस्रार कमल में कुल स्वरूपा भगवती कण्डलिनी का लय होता है और उसका लय होते ही यह चारों प्रकार की सृष्टि भी परमात्मा में लीन होजाती है अर्थात् शिव शक्ति का मिलन होते ही सृष्टि ब्रह्म में लय को प्राप्त होती है ॥१९२-१९३॥

यज्ज्ञात्वा प्राप्त विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।
तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥१९४॥
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥१९५॥

इग सहस्रदल पद्म का ज्ञान प्राप्त होने पर चित्तवृत्ति लय को प्राप्त होजाती है। इसलिए योगी का कर्तव्य है कि वह अपेक्षा-रहित रूप से इस ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करता रहे। क्योंकि इस ज्ञान की प्राप्ति से योगी की चित्तवृत्ति जब लय को प्राप्त होती है, तभी अखण्ड ज्ञान स्वरूप निरन्जन आत्मा का प्रकाश होता है ॥१३४-१९५॥

ब्रह्मांड बाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ॥१९६॥

आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्यसिद्धिमाप्नुयात् ॥१९७॥
एतत् ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकलासिद्धिर्वत्सरान्नात्रः संशयः ॥१९८॥

ब्रह्माण्ड अर्थात् शरीर के बाहर पहले बताये हुए अपने प्रतीक का ध्यान करे और जब ध्यान में चित्त स्थिरता को प्राप्त होजाय तब उसमें महत् शून्य का चिन्तन करना चाहिए। आदि, मध्य और अन्त रूप शून्य में करोड़ सूर्य के समान प्रभा वाले तथा चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाश वाले शून्य रूप आत्मा के दर्शन का अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धि की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य आलस्य-रहित होकर नित्य प्रति निरन्तर ब्रस शून्य के ध्यान में लीन रहता है, वह एक वर्ष में ही सभी सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ॥१९६-१९८॥

क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।
तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥१९९॥
यं दृष्ट्वा न प्रवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ॥२००॥

इस शून्य में जो भी साधक आधे क्षण के लिए भी मन को स्थिर रूप से दृढ़ कर लेता है, वह योगी अवश्य ही भक्त और सभी लोकों में पूजित समझना चाहिए। उसके सभी पाप समूहों का उसी क्षण नाश होजाता है। इसके दर्शन करते ही मनुष्य मृत्यु-रूपी संसार मार्ग में भ्रमण करने से छूट जाता है अर्थात् उसे जन्म-मरण के चक्र में बँधना शेष नहीं रहता। इसका

अभ्यास स्वाधिष्ठान के मार्ग से प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥१९९-२००॥

एतत् ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तु न शक्यते ।
यः साधयत्तिजानाति सोऽस्माकमपि सम्मतम् ॥२०१॥
ध्यानादेव विजानाति विचित्रफलसंभवम् ।
अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ॥२०२॥

मैं इस शून्य का अधिक माहात्म्य कहने में असमर्थ हूँ। अर्थात् इसका माहात्म्य इतना अधिक है कि जसका कहाँ तक वर्णन किया जाय ? जो योगी इसका अभ्यास करके इसके माहात्म्य को जान गये हैं, वे अवश्य ही मेरे समान हो गये हैं। इसके विचित्र फल को इसका ध्यान करने वाला ही जानता है। इसके प्रभाव से अणिमादि सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है, इसमें कुछ संशय नहीं समझना चाहिए ॥२०१-२०२॥

राजाधिराजयोग वर्णन

राजयोगो मया ख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ।
राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥२०३॥
स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ।
गुरुं संपूज्य यत्येन ध्यानमेतत्समाचरत् ॥२०४॥

शिवजी कहते हैं कि मैंने जिस राजयोग को कहा है, वह सब प्रकार से गुप्त है। अब में राजाधिराज योग का विस्तार संहित वर्णन करता हूँ। जन-रहित एकान्त स्थान में स्थित सुन्दर मठ में जाकर साधक प्रयत्न पूर्वक गुरु का पूजन करके स्वस्तिकासन लगाकर बैठे और ध्यान में तत्पर होजाय ॥२०३-२०४॥

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् सुधीः ॥२०५
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥२०६॥

विद्वान् योगी वेदान्त की युक्तियों (विधियों) के अनुसार मन को निरालम्ब करके जीव का चिन्तन करे, किसो अन्य का चिन्तन किंचित भी न करे । इस प्रकार से ध्यान करने पर महासिद्धि होती है, इसमें कुछ भो संशय नहीं है । इसमें साधक मन को वृत्ति हीन करके स्वयं पूर्णरूप होजाता है । अर्थात् वृत्तिरहित चित्त से ध्यान करने पर स्वयं ही यह पूर्ण ज्ञान होजाता है कि मैं आतमा हूँ ॥२०५-२०६॥

साधयेत्सततं यो वै स योगी विगतस्पृहः ।
अहंनाम न कोऽप्यस्ति सर्वदात्मैव विद्यते ॥२०७॥
को वन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्येत्सदा हि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ॥
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥२०८॥

जो योगी पुरुष सदा उक्त प्रकार से साधन करता है, उसकी इच्छाएँ नष्ट होजाती हैं अर्थात् उसे कोई कामना शेष नहीं रहती और 'अहं' नाम का कोई शब्द भी उसके मुख से नहीं निकलता, संसार में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब उसके लिए तो आत्मा ही है । बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? सदा एक आत्मा ही है, जिसे देखता हुआ जो योगी उसका नित्य चिन्तन करता है, वह निःसंदेह मुक्त ही है । वही योगी श्रेष्ठ भक्त तथा सभी लोकों में पूजित होता है ॥२०७-२०८॥

अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।
अहं त्वमेतदुभयंत्यक्त्वा खण्डंविचिन्तयेत् ॥२०९॥
अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।
तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥२१०॥

'मैं ही वह हूँ' इस प्रकार मानता हुआ योगी जीवात्मा-परमात्मा को समान समझे । 'मैं और 'तुम' के भेदभाव को छोड़ कर एक अखण्ड ब्रह्म का ही चिन्तन करे । अध्यारोप और अपवाद से जिसमें सभी वस्तुओं का लय होता है उसी बीज का आश्रय ले और सभी प्रकार के संग से बच कर रहे । अर्थात् किसी के साथ न रह कर एकान्त स्थान में अकेला ही रहे ॥२०९-२१०॥

अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ।
परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ॥२११॥
चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ।
अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तंतस्मिन्प्रलीयते ॥२१२॥

भ्रम से आकुल हुए पुरुष प्रत्यक्ष परिपूर्ण ब्रह्म को त्यागकर भ्रम में ही पड़े रहते और प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष के विचार में डूबे हुए भ्रमते रहते है । यह चराचर विश्व परोक्ष है, जो ऐसा तक करते हैं, वे प्रत्यक्ष परब्रह्म को त्याग कर विश्व में ही लय का प्राप्त होते हैं । अर्थात् वे ससार के बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो पाते ॥२११-२१२॥

ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ।
अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितः ॥२१३॥

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः।
विषयेभ्यः सुषुप्त्येव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ॥२१४॥

जिस अभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होता हो और अज्ञान नष्ट होजाता होता, उसका सदा संग-रहित होकर योगी को अभ्यास करना चाहिए। विद्वान् योगी इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करते हुए संग-रहित होते और विषयों के त्याग में सुषुप्ति के तुल्य लीन होजावे हैं ॥२१३-२१४॥

एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।
श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः।
तदभ्यासवशोदेक स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥२१५॥

इस प्रकार से अभ्यास करने वाले साधक को ज्ञान का प्रकाश स्वयं ही होजाता है और तब गुरु के उपदेश की भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होने पर गुरु द्वारा बताई हुई विधियों की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार इतर वाक्यों के सुनने की इच्छा निवृत्त होजाती है, तब वह साधक स्वयं ही उस अद्भुत ज्ञान में प्रवृत्त हो जाता है ॥१२५॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ॥२१६॥
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः।
तस्मात् प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ॥२१७॥

वह ब्रह्म न तो वाणी से प्राप्त हो सकता है, न मन से ही अर्थात् ब्रह्म मन-वाणी का विषय नहीं है, वरन् योगाभ्यास रूपी साधन और निर्मल ज्ञान के द्वारा स्वयं ही प्रकाशित होता है, यह निश्चय ही सत्य है। हठयोग के बिना राजयोग की सिद्धि

नहीं हो सकती और न राजयोग के बिना हठयोग की ही सिद्धि संभव है। इसलिए योगी को सद्गुरु की शिक्षा के अनुसार हठयोग में प्रवृत्त होना चाहिए ॥२१६-२१७॥

स्थिते देहे जीवति च योगं न श्रियते भृशम् ।
इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥२१८॥

जो पुरुष इस शरीर के विद्यमान रहते हुए योग का आश्रय नहीं लेते, वे इन्द्रियों के भोगों को भोगने के लिये ही संसार में जीवित रहते हैं, इसमें संशय नहीं । अभिप्राय यह है कि योग का आश्रय न लेने वाले पुरुष संसार बन्धन स्वरूप मिथ्या सुखों की भ्रान्ति में पड़े हुए जीवन को व्यर्थ ही गँवाते हैं ॥२१८॥

अभ्यासपाकर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ।
अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ॥२१९॥
अतीव साधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान् ।
करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालापविवर्जितः ॥२२०॥

बुद्धिमान साधक को योगाभ्यास के आरम्भ काल से जब तक अभ्यास सिद्ध न हो तब तक मिताहारी (अल्पभोजी) रहना चाहिए। क्योंकि अधिक भोजन करने से योगाभ्यास में सफलता प्राप्त नहीं होती । बुद्धिमान साधक को साधु के समान बुद्धि रखनी चाहिए। उसे इतना ही (अल्प) भोजना करना चाहिए जितने से कि शरीर की रक्षा हो सके। इस प्रकार उसे अल्प भोजन और अल्प भाषण ही करना चाहिए अर्थात् बोले भी तो उतना ही जितना बोलने का प्रयोजन हो, निष्प्रयोजन वार्तालाप न करे ॥२१९-२२०॥

त्याज्यते त्यज्यते सङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम् ।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२२१॥

गुह्यैव क्रियतेऽभ्यासः सङ्गं त्यक्त्वा तदन्तरे ।
व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसंगो न रागतः ॥२२३॥

योगी का कर्त्तव्य है कि वह त्यागी बने और सब प्रकार के संगों का परित्याग करदे अर्थात् किसी भी पुरुष के सग में या किसी भी विषय में चित्त न रखे। अल्प भोजन और अल्प भाषण रखे, क्योंकि ऐसा आचरण न करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं यह पूर्णतया सत्य ही कहता हूँ। सग-रहित रूप से अर्थात् सभी का संग छोड़कर एकान्त स्थान में योगाभ्यास करे। यदि बाहरी मनुष्यों से व्यवहार आवश्यक ही हो तो उसे कर्त्तव्य मानकर ही करे, आसक्ति के वशीभूत होकर कभी न करे ॥२२१-२२२॥

स्वे स्वे कर्मणि वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसंभवाः ।
निमित्तमात्रं करणे न दोषोऽस्ति कदाचन ॥२२३॥
एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदा चरेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥२२४॥

अपने-अपने आश्रम धर्मों का व्यवहार भी तभी तक करना चाहिए जब तक कि उनकी अपेक्षा हो। इस प्रकार कर्म से संभव जितने भी ज्ञानादि कर्म हैं, उन्हें निमित्त मात्र मानकर ही करने से कभी कोई दोष नहीं लगता। इस प्रकार की निश्चित बुद्धि वाला होकर गृहस्थ भी यदि योगाभ्यास करने लगे तो उसे भी अवश्य सिद्धि प्राप्त होजायगी, इसमें किसी प्रकार के विचार की आवश्यकता नहीं है अर्थात् यह कथन सत्य है ॥२२३-२२४॥

पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ।
यो भवेत्स विमुक्तः स्यात् गृहे तिष्ठन्सदा गृही ॥२२५॥

न पापपुण्यैर्लिप्येत गोगयुक्तो यदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदा पापन्स्वकार्यें लोकसंग्रहे ॥२२६॥

जो गृहस्थ साधक पाप-पुण्य से रहित होकर सभी प्रकार के संग को छोड़ देता है वह घर में रहता हुआ भी पाप-पुण्य के बन्धन में नहीं बँधता। यवि वह योगयुक्त गृहस्थ सांसारिक वस्तुओं के संग्रह में पाप भी कर बैठे तो वह पाप उसे स्पर्श न कर सकेगा ॥२२५-२२६॥

अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यानविरोधितः ॥२२७॥
यस्मिन्मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा ॥२२८॥

अब मैं श्रेष्ठ मन्त्र-साधन का वर्णन करता हूँ, जिसके द्वारा साधक को इहलोक और परलोक दोनों में ही निर्विघ्न सुख की प्राप्ति होती है इस श्रेष्ठ मन्त्र का ज्ञान होने पर अवश्य ही योग की सिद्धि होती है और यह साधन योग के साथ करने से सब प्रकार के ऐश्वर्य और सुख का देने वाला होता है ॥२२७-२२८॥

मूदाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ॥२२९॥
हृदये कामबीचन्तु बन्धूककुसुमप्रभम् ।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥२३०॥

यह जो मूलाधार पद्म चार दलों से समन्वित है, उसके मध्य में विद्युत् की प्रभा के समान वाग्भवबीज का स्फुरण होता है। हृदय स्थान में बन्धूक पुष्प्र के समान प्रभा वाला कामवीज स्थित है और आज्ञापद्म में जो शक्ति संज्ञक बीज

विद्यमान है, वह करोड़ चन्द्रमाओं की प्रभा के समान दीप्तिमान है ॥२२९-२३०॥

बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रभम् ।
एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः ॥२३१॥
एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत् ॥२३२॥

उक्त तीनों बीज गोपनीय हैं और भोग-मोक्ष दोनों के ही देने वाले हैं। इसलिए योगी पुरुष को इन सिद्धि-साधक तीन बीज मन्त्रों का साधन अवश्य करना चाहिए। इन मन्त्रों का उपदेश गुरु-मुख से लेकर, न तो शीघ्र और न देर से अर्थात् समरूप से अक्षर-अक्षर का सन्धान करता हुआ (स्पष्ट उच्चारण पूर्वक) संदेह-रहित मन से जपना चाहिए ॥२३१- ३२॥

तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः ।
देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ॥२३३॥
करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम ।
कुण्डे योन्याकृतौ धीमान् जपान्ते जुहुयात्सुधीः ॥२३४॥

विद्वान् योगी चित्त को एकाग्र करके शास्त्र में वर्णित विधि के अनुसार देवी के निकट बैठकर एक लाख आहुतियाँ (होम) करे और तीन लाख जप करे। उस विज्ञ साधक को जप पूर्ण होने पर कुण्ड निर्मित कर कनेर के फूल, गुड़, दूध और घी मिलाकर आहुतियाँ देनी चाहिए ॥२३३-२३४॥

अनुष्ठाने कृते धीमान् पूर्वसेवा कृता भवेत् ।
ततो ददाति कामान्वै देवो त्रिपुरभैरवी ॥२३५॥

गुरुं सन्तोष्य विधिवत् लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ।
अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिध्यति ॥२३६॥

इस प्रकार अनुष्टान करने वाला बुद्धिमान् साधक भगवती त्रिपुरसुन्दरी की सेवा करता है तो भगवती उसकी सभी कामनाओं को पूर्ण करती हैं। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए पहले विधि सहित गुरु को सन्तुष्ट करके मन्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस विधि से ग्रहण करने पर साधक मन्दभागी हो तो भी सिद्धि प्राप्त करता है ॥२३५-२३६॥

लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ।
दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः ॥२३७॥
जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः ।
आगच्छन्ति यथा तीर्थं विमुक्तकुलविग्रहाः ।
सर्वस्वं तस्य ददति तस्यैव च वशे स्थिताः ॥२३८॥

जो साधक इन्द्रियों को वशीभूत करके एक लाख जप करता है, उसके दर्शन मात्र से ही स्त्रियाँ कामातुर होकर भय रहित एवं निर्लज्ज रूप से आगे आकर गिर जाती हैं। यदि इस मन्त्र का दो लाख की संख्या में जप किया जाय तो जैसे कुलीन स्त्रियाँ लज्जा आदि को छोड़कर तीर्थ में (स्नानार्थ) जाती हैं अर्थात् वस्त्र उतार देती हैं, वैसे ही स्त्रियां निर्लज्ज भाव से साधक के पास आकर, उसके वश में होती हुई अपना सर्वस्व प्रदान कर देती हैं ॥२३७-२३८॥

त्रिभिर्लक्षैस्तथा जप्तैर्मण्डलीक समण्डलम् ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।।
षड्भिलक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ।।२३९।।

यदि इसका तीन लाख जप कर ले तो मण्डलीक राजा भी अपने मण्डल सहित उसके वश में हो जाते हैं, इसमें कुछ विचार करने की बात नहीं है। यदि छः लाख की संख्या में जप करले तो साधक स्वयं ही बल सेना), वाहन आदि से सम्पन्न राजा होजाता है ।।२३९।।

लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्वराः ।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ।।२४०।।
त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु याधकेन्द्रस्य धीमतः ।
सिद्धिविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसाङ्गणाः ।
वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ।।२४१।।

इस मन्त्र का बारह लाख की संख्या में जप करने वाले योगी क वश में पड़ कर यक्ष, राक्षस, नाग आदि सभी सदैव आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं। यदि साधक पन्द्रह लाख जप कर ले तो सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व और अप्सरा आदि सभी उसके वशीभूत होते हैं, इसमें कुछ विचार करने की बात नहीं है। अर्थात् सत्य ही है ।।२४०-२४१।।

हठात् श्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ।
तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ।।२४२।।
उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ।
भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदनीम् ।।२४३।।

हठयोग का अभ्यास करने वाले साधक को श्रवण शक्ति और सर्वज्ञता की उपलब्धि होगी। आशय यह है कि उसे सूक्ष्म श्रवण और सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञान की सामर्थ्य प्राप्त होजाती हैं। उक्त विधान से अठारह लाख की संख्या में जप करने वाले साधक का शरीर दिव्य होजाता है और वह धरती से उठ कर आकाश मार्ग में जाता है तथा इच्छानुसार भ्रमण करता है। उसे धरती के छिद्र देखने की सामर्थ्य भी प्राप्त होजाती है अर्थात् वह पृथिवी में प्रविष्ट होने के मार्गों को भी देख सकता है ॥२४२-२४३॥

शिवसंहिताफलकथन

अष्टाविंशभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ।
साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महावलः ॥२४४॥
त्रिशल्लक्षैस्तथा जप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ।
रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥२४५॥
कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ।
साधकस्तु भवेद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ॥२४६॥

जो बुद्धिमान् साधक अट्ठाईस लाख की संख्या में जप करती है, वह महाबल से समन्वित, कामरूप अर्थात् कामदेव के समान रूपवान् और विद्याधरों का भी स्वामी होजाता है। वह यदि तीस जाख जप करले तो ब्रह्मा, विष्णु के समान होजाता है, साठ लाख जप करले से रुद्रत्व को प्राप्त होता है तथा अस्सी लाख जप करले तो अमरत्व और सर्व प्रियता प्राप्त करता है। यदि एक करोड़ की संख्या में जप करले तो वह योगी परम पद में लीन होजाता है। परन्तु इस प्रकार का साधन करने वाले योगी तीनों लोकों में भी अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥२४४-२४६॥

त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ।
अक्षयं तत्पदं शान्तमप्रमेयनामयम् ॥२४७॥
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमभीप्सितम् ।
शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरि ॥२४८॥

त्रिपुर स्वरूप शिवजी ही परमकारण हैं, उनका पद अक्षय, शान्त, अप्रमेय और रोगों से रहित है, उसकी प्राप्ति योगिजनों के लिए ही हो सकती है। यह सर्व अभीप्सितों को पूर्ण करने वाली शिवविद्या ही महाविद्या है, वही सबसे अग्र (श्रेष्ठ), अत्यन्त गुप्त है, इसे माहेश्वरी या शाम्भवी विद्या भी कहते हैं ॥२४७-२४८॥

मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो बुधैः ।
हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥२४९॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ॥२५०॥
योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ॥२५१॥

मेरे द्वारा कहा गया यह शास्त्र गोपनीय है, विद्वान् पुरुष इसे गुप्त ही रखते हैं। सिद्धि प्राप्त करने वाले साधकों का कर्त्तव्य है कि इस हठविद्या को सदा गुह्य बनाये रहें अर्थात् किसी पर प्रकट न करें। क्योंकि यह गुप रहने पर ही वीर्यवती रहती है और यदि इसे प्रकाशित कर दिया जाय तो निर्वीर्य हो जाती है। जो बुद्धिमान् पुरुष नित्यप्रति इस शास्त्र का आदि से अन्त पर्यन्त पाठ करते हैं, उन्हें क्रमपूर्वक अर्थात् धीरे-धीरे योग सिद्धि उपलब्ध होजाती है और जो विद्वान् पुरुष इस ग्रन्थ का

नित्य पूजन करता है, उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होती है ॥२४६-२५१॥

मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि ।
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत् ॥२५२॥
तस्मात् क्रिया विधानेन कर्तव्या योगपुङ्गवैः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः ॥२५३॥

सभी मुमुक्षु पुरुषों, साधुओं, सुनने वालों और क्रियावान् पुरुषों को अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है, परन्तु क्रियाहीन पुरुष के लिए क्या सम्भव है ? अर्थात् वह कुछ भी नहीं कर सकता । इसलिए विधान से क्रिया का अनुष्ठान करने से इच्छित लाभ की प्राप्ति होने से सन्तोष होता है । इस प्रकार इन्द्रियों में आसक्त न रहे ॥२५२-२५३॥

गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ।
ग्रहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ।
योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥२५४॥

जो गृहस्थ इन्द्रियों में आसक्त न हो, वह योग का साधन करके मुक्त हो सकता है । यह साधन से गृहस्थ पुरुषों को भी सिद्धि देने वाला है, इसलिए गृहस्थ पुरुष भी इसका जप करता हुआ साधन करे ॥२५४॥

गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः
सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे ।
सिद्धे चिन्हं वीक्ष्य पश्चागृहस्थः
क्रीडेत्सं वै सम्मतं साधयित्वा ॥२५५॥

घर में पुत्र-पत्नी आदि से सम्पन्न रहता हुआ गृहस्थ भी संग का परित्याग करके आन्तरिक रूप से योगमाग में प्रवृत्त हो जाय तो सिद्धि के चिन्ह दिखाई देते और वह सदा आनन्द युक्त क्रीड़ा को करता है इसलिए साधक का परम कर्त्तव्य है कि वह संग-रहित रूप से जीवन व्यतीत करे ।।२२५।।

❋ शिव संहिता का पंचम पटल समाप्त ❋

❋ शिव संहिता सम्पूर्ण ❋